* श्रीः *

सम्यग्दर्शन की नई खोज

तू भी स्वामी ! इक नई अन्दाज का इन्सान है !
बात वह कहता है सुन कर हर बशर हैरान है !!

लेखक

व्याख्यान-वाचस्पति, शास्त्रार्थ-केशरी

श्री स्वामी कर्मानन्द

मूल्य आठ आने

मुद्रक
श्रीवास्तव प्रिंटिंग प्रेस,
सहारनपुर

* श्रीः *

सम्यग्दर्शन

आत्मधर्म, मोक्षमार्ग, व जैनधर्म, ये एकार्थवाची शब्द हैं। वीतराग भगवान ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र को मोक्षमार्ग बताया है। इन तीनों में सम्यग्दर्शन प्रधान व मुख्य है इस लिये आचार्यवर्य श्री उमास्वामीने अपने तत्वार्थसूत्रको इसी शब्दसे आरम्भ किया है। उसका प्रथमसूत्र है—

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग ।

इसमें मार्ग' शब्द एकवचनान्त होने से यह सूचित करता है कि तीनों रत्नोंकी एकता मोक्षमार्ग है। अर्थात—ये तीनो पृथक पृथक मोक्ष के कारण नहीं हैं। तथा तीनों की एकता भी साक्षात् मोक्ष का कारण नहीं है, अपि तु परंपरा मोक्षका कारण है—इसी लिये आचार्यों ने इस को व्यवहार मोक्षमार्ग कहा है। यथा—

धर्मादिश्रद्धानं सम्यक्त्व ज्ञानमङ्गपूर्वगतम् ।
चेष्टा तपसि चर्या व्यवहारो मोक्षमार्ग इति ॥

—पंचास्तिकाय गाथा १६०

इस ग्रन्थ पर दो आचार्यों की संस्कृत टीकायें हैं—

(१) श्री अमृतचन्द्राचार्यकृत तत्वप्रदीपिका (२) श्री जयसेनाचार्यकृत तात्पर्यवृत्ति। इन दोनों आचार्यप्रवरों ने इस श्लोक का निम्न भाव प्रदर्शित किया है—

"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः। तत्र धर्मादीनां द्रव्यपदार्थ-विकल्पवतां तत्वार्थश्रद्धानभावस्वभावं भावान्तरं श्रद्धानाख्यं सम्यक्त्वम्।

... इत्येष स्वपरप्रत्ययपर्यायाश्रितं भिन्नसाध्यसाधनभाव व्यवहारनय-माश्रित्यानुगम्यमानो मोक्षमार्ग ।

अर्थात—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, व सम्यक्चारित्र की एकता व्यवहार मोक्षमार्ग है । यह व्यवहार मोक्षमार्ग, जीवपुद्गल सम्बन्धी पर्याय से उत्पन्न हुआ है और इसी पर्याय के आधीन है, तथा साध्य-भिन्न है और साधनभिन्न है । साध्य निश्चय मोक्षमार्ग है और साधन व्यवहार मोक्षमार्ग है । यह व्यवहार मोक्षमार्ग ऊपर के शुद्ध गुणस्थानों मे जीव को स्थिर करता है ।

श्री अमृतचन्द्राचार्य ने प्रथम ही उमास्वामी का—"सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" । यह सूत्र लिख कर यह सिद्ध कर दिया कि तत्वार्थसूत्र मे व्यवहार रत्नत्रय का कथन है और यह रत्नत्रय की एकतारूप (व्यवहार) मोक्षमार्ग है । इसी प्रकार अध्यात्मकमलमार्तण्डमे लिखा है—

"सम्यग्दृग्ज्ञानवृत्त त्रितयमपियुतं मोक्षमार्गो त्रिभक्तात ।१।६।

अर्थात्—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र की एकता व्यवहार मोक्षमार्ग है । श्लोक मे 'त्रितयमपि युत' 'मोक्षमार्गोविभक्तात' शब्द सरल और सुन्दर हैं । इन शब्दो ने सम्पूर्ण विवादो को समाप्त कर दिया है । इसी श्लोक की टिप्पणी में लिखा है कि—

"व्यवहारनयात, दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग" ।

अर्थात्—सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की एकता व्यवहारनय से मोक्षमार्ग है । टिप्पणीकार ने अपनी पुष्टि में किसी आचार्य की एक प्राकृत गाथा भी उद्धृत की है । जो इस प्रकार है—

"सम्म दंसणणाणं चरणं मोक्खस्स कारणं जाणे ।
ववहारा निच्छयदोतत्तिय मइ ओ णिओ अप्पा ॥

इसी प्रकार तत्वार्थसार में लिखा है कि—

श्रद्धानाधिगमोपेक्षा या. पुनः स्यु परात्मना ।
सम्यक्त्वज्ञानवृत्तात्मा स मार्गो व्यवहारत ॥ ६ ।४।

अर्थात्—सम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्र जब भेदरूप रहते हैं—पराश्रित होते हैं तो उस रत्नत्रयको व्यवहार से मोक्षमार्ग कहते हैं। क्योंकि यह मार्ग पराश्रित है।

इसी प्रकार अनेक शास्त्रों के प्रमाण दिये जा सकते हैं, परन्तु स्थानाभाव तथा पुनरुक्ति के भय से हम यहीं समाप्त करते हैं। अब विचारणीय यह है कि यह व्यवहार मार्ग किस गुणस्थान तक रहता है। इस का निर्णय श्री विद्यानन्द स्वामी ने श्लोकवार्तिकमें इस प्रकार किया है—

रत्नत्रितयरूपेणायोगिकेवलिनोऽन्तिमे ।
क्षणे विवर्तते ह्येतद् बाध्य निश्चयान्नयात् ॥
व्यवहारनयाश्रित्य त्वेतत्प्रागेव कारणम् ।
मोक्षस्येति विवादेन पर्याप्तं न्यायदर्शिन॰ ॥ सूत्र० १।६५

इस का अभिप्राय यह है कि अयोग केवली के अन्तिम समय में रत्नत्रय निश्चयरूप हैं, इस से पहले के गुणस्थान वाले रत्नत्रय को भी व्यवहारदृष्टिसे मोक्षमार्ग कह सकते हैं।‡

यहां स्पष्टरूपसे सयोग केवली गुणस्थान तक के रत्नत्रय को व्यवहार मोक्षमार्ग कहा है। श्री भास्करनन्दि आचार्य ने भी तत्वार्थसूत्र के प्रथम सूत्र की टीका मे यही कहा है—

"अतएव अयोगकेवली चरमसमयवर्ति रत्नत्रयसम्पूर्णतैव सकलसंसारोच्छेदनिबन्धनमित्यत्र बोधव्यम् ॥

अर्थात्—१४ वें गुणस्थानके अन्तिम समयमे रत्नत्रयकी पूर्णता समझनी चाहिये।

---

‡ श्रीमान् प० माणिकचन्द जी न्यायाचार्य ने भी इन श्लोकों का यही भाव लिखा है।

गुणस्थान

मोहनकर्मण उदयात्तु भणितानि यानीमानि गुणस्थानानि।
तानि कथं भवन्ति जीवा यानि नित्यमचेतनान्युक्तानि ॥
समयसार० गा० ६८

भावार्थ—जितने भी गुणस्थान हैं वे सब मोहकर्म के उदय से होते हैं। ऐसा आगम मे कहा है। इस लिये ये गुणस्थान आत्मा नही हैं। जब सम्पूर्ण गुणस्थान मोह के औदायिक भाव हैं तो १३ वां सयोग केवली गुणस्थान को भी मोह के उदय से ही मानना होगा। जब मोह का अंश है तो वह अंश अवश्य ही आत्मा को विकृत कर रहा है। यद्यपि १२ वे गुणस्थान मोहकर्म का सर्वथा क्षय हो गया है परन्तु अघातिया कर्मों का तो तेरहवे में सद्भाव है ही ये अघातियाकर्म भी आत्मा के सम्पूर्ण गुणों में कुछ न कुछ विकार करते ही हैं। इसी विषय को बृहद् द्रव्यसंग्रह में स्पष्ट किया है –

अत्राह शिष्य—केवलज्ञानोत्पत्तौ मोक्षकारणभूतरत्नत्रयपरिपूर्णतायां सत्यां तस्मिन्नैव क्षणे मोक्षेण भाव्य सयोग्ययोगिजिनगुणस्थानद्वये कालो नास्तीति। परिहारमाह—यथाख्यातचारित्रं जातं किन्तु परम यथाख्यात नास्ति। · योग अयगते पुनरयोगिजिने चरमसमयं विहाय शेषाघातिकर्मतीव्रोदयश्चारित्रमल जनयति'।

प्रश्न—केवलज्ञान के उत्पन्न होने पर रत्नत्रय (जो मोक्ष का कारण है) की भी पूर्णता हो जाती है। पुन. सयोग केवली और अयोग केवली आदि गुणस्थानो के लिये अवकाश ही नही है। अत: ये गुणस्थान नही हैं। इस प्रश्न का आचार्य उत्तर देते हैं कि, तेरहवे गुणस्थान मे यथाख्यात चारित्र तो हो गया परन्तु परम यथाख्यात चारित्र नही हुआ। क्योंकि अघातिया कर्मो के संसर्ग से चारित्र मे मल लगता है अथवा अयोग केवली गुणस्थान के अन्त समय से पूर्व अघातिया कर्मो का तीव्रोदय है वह चारित्र को विकृत करता है। पृ० ३२

प्रश्न - सम्यक्चारित्र मे कुछ विकार होता है यह माना, परन्तु सम्यग्दर्शन तो पूर्ण है उस मे तो कुछ न्यूनता नहीं हो सकती ?

उत्तर—प्रत्येक विजातीय द्रव्य का सयोग द्रव्य के प्रत्येक गुण को विकृत करता है, यथा शुद्ध जल मे यदि आपने मीठा डाला तो उसने उसके रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि सभी गुणों को विकृत किया और यदि नमक डाला तो भी उसने सम्पूर्ण गुणों को विकृत किया। इसी प्रकार अन्य जो भी पदार्थ उस जल मे डालोगे वही पदार्थ जल के प्रत्येक गुण को विकृत करेगा। इसी प्रकार जल मे से जो पदार्थ निकालोगे वह जल के प्रत्येक गुण को शुद्ध करेगा।

अत आत्मा में भी जो पुद्गल द्रव्य है वह चाहे परमाणु मात्र ही क्यों न हो वह आत्मा के प्रत्येक गुण को विकृत करेगा।

प्रश्न—आप की युक्ति तो ठीक है, परन्तु जैनसिद्धान्तानुसार तो सम्यग्दर्शन चतुर्थ गुणस्थान मे ही क्षायिक अर्थात् पूर्ण और अत्यन्त-निर्मल हो जाता है किन्तु शेष गुण १३ वे गुणस्थान मे पूर्ण होते हैं।

उत्तर - ऐसा कहना ठीक नही है क्योंकि किसी भी जैनाचार्य ने चतुर्थादि गुणस्थानों मे सम्यग्दर्शन की पूर्णता व पूर्णनिर्मलता नही मानी है, अपितु सम्पूर्ण आचार्यों ने अयोगकेवली के ही सम्यग्दर्शन की पूर्णता मानी है, यथा—भगवती आराधना मे सम्यग्दर्शन के जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट आदि भेद किये हैं। वहा प्रश्न हुआ कि—

"उत्कृष्टता कथ सम्यक्त्वाराधनाया इति चेत्"।

इह द्विविध सम्यक्त्वं सरागसम्यक्त्वं वीतरागसम्यक्त्व चेति । तत्र प्रशस्तरागसहितानां श्रद्धान सरागसम्यग्दर्शनम् रागद्विरहितानां क्षीणमोहावरणानांवीतरागसम्यग्दर्शनम तस्याराधना उत्कृष्टारागमलाभावात् अशेष-त्रिकालगोचर वस्तु याथात्म्यग्राहि सकलज्ञानसहचारित्वाच्च । १।४४

तत्र केवलिनो वर्या मध्याशेषसद्दशाम् । केवलिशब्दो यद्यपि-सामान्येन केवलिद्वये प्रवृत्तस्तथापि इह अयोगकेवलिग्रहणं इत्यन्यत्र-मरणाभावात् । विजयोदया टीका पृ० १७५

यहां आचार्य महाराज ने सहयोग केवली का निषेध करके विशेषतया अयोग केवली का ग्रहण किया है। इस से स्पष्ट कर दिया है कि सयोग केवली का सम्यग्दर्शन भी पूर्ण नहीं है। अत यह सिद्ध है कि सम्य क्त्व आदि सम्पूर्ण गुणों की पूर्णता एक साथ ही होती है। तथा च तत्त्वार्थसूत्रके टीकाकार सभी आचार्यों ने सराग और वीतराग इस प्रकार सम्यग्दर्शन के दो भेद किये हैं। वहां वीतराग को आत्मविशुद्धिमात्र माना है। इस विशुद्धिमात्र का अर्थ भी अयोगकेवली के अन्त समय की आत्मविशुद्धि है। अभिप्राय यह है कि आत्मा की पूर्ण शुद्धता ही आत्मिक गुणों की पूर्ण शुद्धता है। यही कारण है कि निश्चय नयमें आत्मा को ही रत्नत्रय माना गया है। इसके लिये तत्त्वार्थसारका नवों अन्तिम अधिकार देखना चाहिये। तथा च श्रीमदाचार्यप्रवर कुन्द कुन्द स्वामी ने लिखा है कि—

जीवादीना श्रद्धान सम्यक्त्वं जिनवरैः निर्दिष्टम्।
व्यवहारात् निश्चयत आत्मा भवति सम्यक्त्वम्॥

दर्शनपाहुड० गा० २०

अर्थात्—जीवादि तत्त्वों का श्रद्धान (रुचि) को जिनवरों ने व्यवहार से सम्यग्दर्शन कहा है। निश्चय मे आत्मा ही सम्यग्दर्शन है। यही भाव समयसार आदि ग्रन्थो मे भी बार बार आया है।

इसी विषय को श्रीमान् पं० मक्खनलाल जी न्यायालकार ने पंचाध्यायी की टीका में निम्न प्रकार स्पष्ट किया है—

''दशवे गुणस्थान तक चारित्र योग के साथ ही अपूर्ण बन रहा है। दशवें के अन्त में चारित्र मोहनीय के दूर हो जाने से वह पूर्ण हो चुका है, तथापि उसको अशुद्ध करने मे कारणीभूत उसका साथी योग अभी तक अपना कार्य कर रहा है। इस लिये चारित्र के निर्दोष होने पर भी योग के सहचर्य से उसे भी आनुषंगिक दोषी बनना पड़ता है। यद्यपि कर्म को ग्रहण करनेवाला योग चारित्र मे कुछ मलिनता नहीं कर सकता है, तथापि चारित्र और योग दोनों ही आत्मा से अभिन्न हैं। अभिन्नता में

जिस प्रकार योग से आत्मा अशुद्ध समझा जाता है उसी प्रकार चारित्र भी समझा जाता है। इसी लिये शास्त्रकारों ने यथाख्यात चारित्र की पूर्णता चौदहवे गुणस्थान में बताई है। वहीं पर परमावगाढ सम्यक्त्व भी बतलाया है। इस लिये चौदहवे गुणस्थान में ही रत्नत्रय की पूर्णता होती है और वहीं पर मोक्ष प्राप्ति होती है।"--पृ० १६८

प्रश्न--यहां स्पष्टरूप से चारित्र मे आनुषंगिक दोष कहा है ?

अर्थात्--चारित्र तो पूर्ण निर्मल है परन्तु योग के सहचर्य से उस को भी दोषी कह दिया गया है।

उत्तर--यह कथन अशुद्धतर नय की अपेक्षा से गुणों को पृथक पृथक मान कर किया गया है। वास्तवमे गुण पृथक पृथक नहीं हैं। अतः निश्चय नयसे इन कल्पनाओं मे कुछ भी सार नहीं है। संग दोष तो दो पृथक पृथक व्यक्तियों में एक दूसरे का लगता है, परन्तु गुण भिन्न भिन्न नहीं है और न आत्मा ही गुणो से भिन्न कोई अन्य पदार्थ है। यदि इन सब को पृथक माना जाये तो आत्मा का अभाव हो जायेगा[1]। फिर भी इतना तो स्पष्ट ही है कि तेरहवे गुणस्थान तक का रत्नत्रय पूर्ण नहीं है।

लक्षण

श्रीमदाचार्यवर्य उमा स्वामीने सम्यग्दर्शन का लक्षण "तत्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शनम्" किया है। परन्तु तत्वार्थ श्रद्धान तो मिथ्यादृष्टियो को भी होता है। इसलिये श्रीमान् प० टोडरमल जी ने मोक्षमार्ग प्रकाशक में इस श्रद्धान के साथ विपरीताभिनिवेश रहित शब्द और जोड़ दिया है।

---

[1] वास्तव मे तो न एक गुण विकृत होता है, और न एक गुण निर्मल ही होता है। एक गुण के विकृत होने पर सम्पूर्ण गुण विकृत स्वयमेव हो जाते हैं। तथा एक गुण के निर्मल होने पर अन्य सब गुण निर्मल हो जाते हैं। किसी द्रव्य के एक गुण की निर्मलता व विकृति मानना ही मिथ्या भ्रान्तिमात्र है। क्योंकि ऐसा होना असंभव है।

अर्थात्--उन्होंने सम्यग्दर्शन का लक्षण 'विपरीताभिनिवेश रहित तत्त्वार्थ श्रद्धान' किया है। श्रद्धा, विश्वास, प्रीति, प्रतीति, रुचि, अभिलाषा आदि शब्द एकार्थवाचक बताये गये हैं। अनगार धर्म्मामृत अ० २ श्लो० ४६ में रुचि का अर्थ श्रद्धा किया है। इसी प्रकार षटप्राभृत की टीका में 'श्रद्धानं रुचिः' कहकर श्रद्धान का अर्थ रुचि किया गया है। दर्शनपाहुड, गा० २०। इस से सिद्ध है कि रुचि और श्रद्धान एकार्थक शब्द हैं। परन्तु पचाध्यायीकार ने श्रद्धान को ज्ञान की पर्याय कह कर सम्यग्दर्शन के इस लक्षण को स्वीकार नहीं किया, जैसा कि लिखा है—

"न सम्यक्त्वं तदेवेति सन्ति ज्ञानस्य पर्ययाः ॥२।३८६॥

इसी प्रकार रुचि भी लोभकषाय का विकार है उस को भी सम्यग्दर्शन नहीं कहा जा सकता।

"तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्।'

इस सूत्र की टीका करते हुये श्री भास्करनन्दि आचार्य लिखते हैं---

'रुचिं सम्यक्त्वमिति केचिदाहु. रुचिश्चेच्छाभिलाष इत्यनर्थान्तरम्। साच चारित्रमोहप्रकारस्य लोभकषायस्य भेदस्तस्मिंश्च सम्यक्त्व लक्षणेऽङ्गीक्रियमाणेऽतिव्याप्त्य व्याप्ति लक्षणदोषद्वयप्रसंगः स्यात्। तस्मादेतल्लक्षणं सम्यक्त्वस्य परित्यज्यते।

अर्थात्---रुचि, इच्छा, अभिलाषा आदि शब्द समानार्थक हैं। और ये सब लोभ कषाय के भेद हैं। अत तत्त्वार्थरुचि को सम्यग्दर्शन का लक्षण मानने पर लक्षण में अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोष आयेंगे। क्योंकि मिथ्यादृष्टियों के भी तत्वरुचि होती है वे भी सम्यग्दृष्टि बन जायेंगे। अतः यह अतिव्याप्ति दोष है। तथा अर्हन्तों के इच्छादि का अभाव होने से वहां सम्यग्दर्शन नहीं रहेगा। इस लिये यह अव्याप्ति दोष है। अतः इस दूषित लक्षण का त्याग करते हैं। अत भास्करनन्दी आचार्य ने सम्यग्दर्शन का लक्षण किया है कि—"विपरीताभिमान

रहितमात्मस्वरूपं सम्यग्दर्शनम्" अर्थात् विपरीत अभिमान से रहित जो आत्म का स्वरूप है वह सम्यग्दर्शन है। आचार्य महाराज कहते हैं कि यह लक्षण 'अव्याप्ति' और अतिव्याप्ति आदि दोषों से रहित है। यहां विपरीताभिमान का अर्थ दर्शनमोहनीय और अनन्तानुबन्धी कषाय का है। अर्थात् इन के क्षय होने पर जो आत्म-स्वरूप प्रकट होता है उस का नाम सम्यग्दर्शन है।

आगे आचार्य लिखते हैं कि—तच्च सम्यग्दर्शनं सराग वीतराग विकल्पाद् द्विविधम्। प्रशम संवेगानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणं सराग सम्यक्त्वम्। आत्मविशुद्धिमात्रं वीतरागसम्यक्त्वमिति।

अर्थात्—विपरीताभिमान रहित आत्मस्वरूप लक्षण वाला सम्यग्दर्शन दो प्रकार का है। एक सराग (व्यवहार) दूसरा वीतराग अर्थात् निश्चय। विपरीताभिमान रहित प्रशम संवेग अनुकम्पा आदि का जो अभिव्यंजक (प्रकाशक) है वह सराग सम्यग्दर्शन है और आत्मा की पूर्ण विशुद्धिमात्र को वीतराग अर्थात् निश्चय सम्यग्दर्शन कहते हैं। यह निश्चय सम्यग्दर्शन अयोग केवली के अन्तिम समय मे उत्पन्न होता है। यह सिद्ध किया जा चुका है। पूज्यपाद स्वामी ने सर्वार्थ सिद्धि मे तथा राजवार्तिक व श्लोकवार्तिक में भी सम्यग्दर्शन के उपरोक्त शब्दों मे ही दो भेद किये हैं, इस प्रकार तत्त्वार्थसूत्र के टीकाकार आचार्यों ने उस के दो भेद कर के, प्रथम के लक्षण, प्रशम, संवेग, अनुकंपा, आस्तिक्य आदि किया है, और इस को सराग अर्थात् व्यवहार सम्यग्दर्शन माना है। परन्तु इस लक्षण पर श्री धवला जी में एक प्रबल शंका यह उठाई गई है कि प्रशम, संवेगादि लक्षण मानने पर असंयत सम्यग्दृष्टि अर्थात् चतुर्थ गुणस्थान का अभाव मानना पडेगा। और पूर्वलक्षण (तत्त्वार्थ-श्रद्धान लक्षण) मे इस लक्षण का विरोध भी है। इस का आचार्यों ने उत्तर दिया है कि यह बात नहीं है क्यों कि 'शुद्धाशुद्धनय समाश्रयणात् अथवा तत्त्वरुचि: सम्यक्त्व अशुद्धतरनय समाश्रयणात्" ॥ भा १ पृ १५१

तत्त्वार्थ श्रद्धानलक्षण अशुद्धनय की अपेक्षा से है और प्रशम आदि

लक्षण शुद्धनय का आश्रय लेकर किया गया है* । यहां शुद्धनय का अर्थ निश्चय नय नहीं है, अपितु चतुर्थ गुणस्थान की अपेक्षासे शुद्ध है । अस्तु अभिप्राय यह है कि श्री धवला जी में प्रशम संवेग आदि की अभिव्यक्ति चतुर्थ गुणस्थान में नहीं मानी अपितु पंचमादि में मानी है । धवला जी के मतानुसार तत्वार्थश्रद्धान लक्षण चतुर्थ गुणस्थान की अपेक्षा से है । क्योंकि वहाँ पर केवलश्रद्धान मात्र ही उत्पन्न होता है । तथा प्रशम संवेग अनुकम्पा, आस्तिक्य आदि अभिव्यंजक पंचम गुणस्थान की अपेक्षा से लक्षण माना गया है । यद्यपि यहां भी श्रद्धान रहता है । इसी प्रशम, संवेग, अनुकंपा, आस्तिक्यके साथ जब निर्वेद, आदि गुण उत्पन्न हो जाते हैं तब वह छटे गुणस्थान का लक्षण हो जाता है । इसी प्रकार आगे आत्मानुभूति लक्षण होता है और शुद्धात्मानुभूति और पुन. आत्म-विशुद्धिमात्र सम्यग्दर्शन का लक्षण रह जाता है । इस आत्मविशुद्धिमात्र को ही ज्ञान चेतना भी कहते हैं । अभिप्राय यह है कि आचार्यों ने सम्य-ग्दर्शन के लक्षण भिन्न २ किये हैं संभवत: वे सब गुणस्थानों की अपेक्षा से पृथक पृथक लक्षण किये गये हैं । श्री धवला जी के संकेत से यह अनुमान लगाया जा सकता है ।

१० प्रकार का सम्यक्त्व

सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति अनेक प्रकार से मानी गई है, यथा सात प्रकृतियों के क्षय आदि से जो उत्पन्न होता है उसे क्षायिक आदि कहते हैं । किन्हीं आचार्यों ने सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में उपरोक्त कारण को गौण करके ज्ञान को ही मुख्य कारण माना है । अत उन आचार्यों ने ज्ञान के भेद से सम्यग्दर्शन के दस भेद किये हैं । यथा—

(१) आज्ञासम्यक्त्व । यह वीतराग भगवान की आज्ञा को ही प्रधान मानता है, उस में ननुनच करना यह नहीं जानता ।

(२) रुचि, तत्वार्थ जानने में रुचि होती है ।

* और अशुद्धतर नय की अपेक्षा से तत्व रुचि को सम्यग्दर्शन कहते हैं ।

(३) पुराण आदि प्रथमानुयोग के पठन पाठन से जो सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है वह उपदेश सम्यग्दर्शन है।

(४) सूत्र, मुनीनामाचारसूत्रं मूलाचारशास्त्रं श्रुत्वा यदुत्पद्यते तत्सूत्र सम्यक्त्वं कथ्यते।

(५) उपलब्धिवशाद् दुरभिनिवेशविध्वंशनान्निरुपमोपशमाभ्यन्तः-कारणात विज्ञातदुर्ध्याख्येय जीवादिपदार्थ बीजभूतशास्त्राद्यदुत्पद्यते तद्बीजसम्यक्त्वं प्ररूप्यते।

(६) संक्षेप,—जीवादि पदार्थों को संक्षेप से जान कर जो सम्यक्त्व उत्पन्न हो वह संक्षेप है।

(७) विस्तार,—द्वादशांग श्रवणेन यज्जायते तद्विस्तारसम्यक्त्वम्।

(८) अर्थ—अंगबाह्य श्रुतज्ञान से जो उत्पन्न हो वह अर्थ सम्यक्त्व है।

(९) अवगाढ, अग और अंग बाह्य शास्त्रों के अध्ययन से जो उत्पन्न हो वह अवगाढ है। यह श्रुतकेवली के होता है।

(१०) परमावगाढ।—यत्केवलज्ञानेनार्थानवलोक्य सद्दृष्टि भवति तस्य परमावगाढसम्यक्त्व कथ्यते।

केवलज्ञान द्वारा पदार्थों को जान कर जो श्रद्धान उत्पन्न होता है वह परमावगाढ सम्यक्त्व है। षट्प्राभृतादि, दर्शनप्रा० टीका।

इन दस भेदों से आचार्यों ने स्पष्ट कर दिया कि जैसे जैसे ज्ञान बढ़ता जाता है वैसे वैसे ही सम्यग्दर्शन भी दृढ़ होता जाता है। और केवलज्ञान के होने पर वह परमावगाढ़ हो जाता है। आचार्यों ने इस प्रकार सम्यक्त्वके क्रमिक विकास की घोषणा की है। इसी लिये आचार्यों ने लिखा है—

यावन्मात्र ज्ञान तावन्मात्रं सम्यग्दर्शनं सम्यक्चारित्रं च, तेषामेकीभावनिश्चयात्। षट्प्रा० टीका।

इसी प्रकार भगवती आराधना मे लिखा है कि--

त चेव हवइणाण त चेव य होइ सम्मतम् ॥ ६ ॥

टीका में लिखा है कि जैसा चारित्र का ज्ञान स अविनाभाव है, वैसा ही सम्यग्दर्शन के साथ भी है । चारित्र ही ज्ञान और दर्शन है । तथा श्रीमदाचार्यवर्य कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं कि--

व्यवहारेणोपदिश्यते ज्ञानिनश्चारित्र दर्शन ज्ञानम् ।
नापि ज्ञान न चारित्र न दर्शन ज्ञायक: शुद्ध ॥
समयसार १।७

अर्थात्---ज्ञानी के न तो दर्शन है और न ज्ञान है । वह तो शुद्ध चैतन्यरूप है । शास्त्रो मे उसके जो ज्ञान आदि कहे हैं, वे सब व्यवहार दृष्टि से कहे गये हैं । अर्थात वह औपचारिक कथन है । इस पर शंका की गई कि इस व्यवहार-कथन का आवश्यकता क्या है ? इसका उत्तर आचार्यो ने दिया है कि---

यथानापि शक्योऽनार्योऽनार्यभाषा विना तु ग्राहयितुम् ।
तथा व्यवहारेण विना परमार्थोपदेशमशक्यम् ॥ ८ ॥

अर्थात्---जिस प्रकार अनार्य जनो को बिना म्लेच्छ भाषा के नही समझाया जा सकता उसी प्रकार साधारण जनों को व्यवहार के उपदेश बिना नही समझाया जा सकता । इस लिये आचार्यो ने साधारण जनों को बोध के लिये सम्यग्दर्शन आदि को आत्मा के गुण कह कर उपदेश दिया है । इन गाथाओं पर आचार्यों ने जो वृत्तियां लिखी हैं वे भी ध्यान से मनन करने योग्य हैं । श्री अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं कि धर्म और धर्मी का यद्यपि स्वभाव से अभेद है तो भी नाम मे भेद होने के कारण व्यवहारमात्रसे ज्ञानी के दर्शन, ज्ञान चारित्र कहा है । परन्तु परमार्थ से देखा जाये तो एकद्रव्यकर पिये गये अनन्त पर्यायपने कर एकमेक मिले हुए अभेदस्वभाव वस्तु को अनुभव करने वाले पण्डित

पुरुषों के दर्शन भी नही, ज्ञान भी नही और चारित्र भी नही हैं । वह तो केवल ज्ञायक (चैतन्य) शुद्ध स्वरूप हैं ।

अभिप्राय यह है कि सम्यग्दर्शन आदि व्यवहारनय से पृथक पृथक कहे गये हैं । वास्तव में पृथक पृथक नही हैं । यही कारण है कि आचार्यों ने सम्पूर्ण गुणो को एक गुणात्मक तथा एक गुण को सर्व-गुणात्मक कहा है† । जब यह सिद्धान्त है तो स्पष्ट हो गया कि एक गुण की न्यूनता सम्पूर्ण गुणो में न्यूनता है तथा एक गुण का विकार सब गुणों मे विकार करता है । इसी लिये द्रव्यसग्रह की टीका मे आचार्यों ने सिद्धों के सम्यग्दर्शन को परमक्षायिक माना है । यदि क्षायिक एक ही प्रकार का होता तो परमक्षायिक लिखना ही व्यर्थ था ।

अभिप्राय यह है कि सम्पूर्ण आचार्यों ने सम्यग्दर्शन के लक्षण तत्त्वार्थ-श्रद्धान किये हैं । तथा पुरुषार्थ-सिद्धयुपाय में और श्रद्धय प० टोडरमल जी ने इस मे विपरीताभिनिवेशरहित शब्द संयुक्त करके सम्य-क्त्व का लक्षण विपरीताभिनिवेशरहित तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शन किया है । श्रीमान् प० टोडरमल जी लिखते हैं कि सम्यग्दर्शन मे जो 'सम्यक्' शब्द है वह प्रशंसावाचक है, अत: 'सम्यक' शब्द का अर्थ ही विपरीता-भिनिवेश रहित है । विपरीताभिनिवेश का अर्थ है उलटे अभिप्राय से रहित जो तत्त्वार्थश्रद्धान है वह सम्यग्दर्शन है । विपरीताभिनिवेश सात प्रकृतियों के उपशम व क्षय आदि से होता है, जैसा कि श्रीमान् प० टोडरमल जी ने स्वयं लिखा है—

"मिथ्यात्व कर्मका उपशम आदि होतें विपरीताभिनिवेशका अभाव होय है ।" मोक्षमार्गप्रकाशक पृ० ४६२

यही बात श्री जैसेनाचार्य ने पचास्तिकाय की टीका मे लिखी है, यथा योसौ विपरीताभिनिवेशपरिणाम. स दर्शनमोह: । पृ० १६५

अर्थात्—दर्शनमोहनीय का नाम विपरीताभिनिवेश है ।

---

† ज्ञानार्णव

अभिप्राय यह है कि दर्शनमोहनीय के अभाव में जो तत्त्वार्थ-श्रद्धान होता है उस का नाम सम्यग्दर्शन है। यह सम्यग्दर्शन दो प्रकार का है—

(१) व्यवहार अर्थात् सराग।

(२) वीतराग अर्थात् निश्चय।

व्यवहार सम्यग्दर्शन चतुर्थ गुणस्थान से आरंभ होकर सातवें गुणस्थान तक रहता है तथा निश्चय सम्यग्दर्शन सातवें गुणस्थान से तेरहवें तक रहता है। यद्यपि यह निश्चयसम्यग्दर्शन भी व्यवहार है परन्तु प्रथम की अपेक्षा से यह निश्चय है। तथा चतुर्थ गुणस्थान आदि के सम्यग्दर्शन को भी मिथ्यात्वी के श्रद्धान की अपेक्षा से निश्चय सम्दर्शन कह सकते हैं। परन्तु वास्तव में वह व्यवहार ही है। व्यवहार, उपचार, पर्याय, पराश्रित, अशुद्ध, सराग, विकल, भेद आदि शब्द समानार्थक हैं। अर्थात् आचार्यों ने व्यवहार सम्यग्दर्शन का कथन, सराग, उपचार, भेद, अशुद्ध विकल, भेदसम्यक्त्वके नाम से किया है। अतः जहां भी उपरोक्त शब्दों में से किसी भी शब्द का प्रयोग हुआ हो वहीं व्यवहार सम्यग्दर्शन का कथन समझ लेना चाहिये। इस के अलावा जहां भी सम्यग्दर्शन के अंगों का तथा उस के दोष व मल आदि का कथन किया गया है वह सब भी व्यवहार सम्यग्दर्शन का ही कथन समझ लेना चाहिये।

व्यवहार का स्वरूप

व्यवहार रत्नत्रय का स्वरूप आचार्यों ने निम्न प्रकार से लिखा है।

(१) साध्य साधन और साधक आदि भिन्न २ हों। जैसे वस्त्र को शुद्ध करने के लिये साबुन लगाया जाता है। इस में साबुन और वस्त्र आदि भिन्न २ हैं। यदि वास्तविक दृष्टि से देखा जाये तो साबुन भी मैल ही है। यहां यदि साबुन को शुद्ध कहा जाये तो यह कथन व्यवहार कथन कहलावेगा। क्यों कि साबुन स्वयं शुद्ध नहीं है अपितु शुद्धि का कारण है। इसी प्रकार यह सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रय भी मुक्ति का

परंपरा कारण है। इसी लिये इस को व्यवहार रत्नत्रय कहते हैं।

(२) पराश्रित। जिस प्रकार 'घी' स्वयं शीतल होने पर भी अग्नि के आश्रित होने से जलाने का कार्य करता है। यदि जैनदर्शन की दृष्टि से देखा जाये तो अग्नि और घृत के सयोग से एक तीसरी पर्याय बन गई है। क्योंकि उस घृत में इस समय घृत के शीतलादि गुणों का अभाव सा है, अग्नि के संयोग से इस के रूप, रस, स्पर्श गन्ध आदि सम्पूर्ण गुण विकृत हो चुके हैं। यदि कोई व्यक्ति अपनी मूर्खता से इस को घी समझ कर पीने का प्रयत्न करे तो उस का मुख आदि जलने के सिवा अन्य क्या लाभ हो सकता है? इसी प्रकार सराग सम्यग्दर्शन भी राग आदि से सयुक्त होने के कारण उस की एक तीसरी पर्याय बन गई है। वास्तविक शुद्ध सम्यग्दर्शन तो मोक्ष का ही कारण है परन्तु यह सराग सम्यग्दर्शन मोक्ष का कारण न होकर बन्ध का कारण होता है। यही कारण है कि सरागसम्यग्दर्शन को व्यवहारसम्यग्दर्शन कहते हैं। क्यों कि यह परंपरा मोक्ष का कारण है, साक्षात् मोक्ष का कारण नहीं है।

(३) भेद यदि शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से देखा जाये तो आत्मा एक अखण्ड पिंड है, अभेद है, उस में दर्शन, ज्ञानचारित्र आदि की कल्पना व्यवहार दृष्टि से की जाती है। अतः जब तक इस प्रकार की भेदबुद्धि है। उस समय तक के रत्नत्रय, व्यवहार रत्नत्रय कहलाते हैं। क्योंकि यह एक अद्वैत आत्मा में द्वैत कल्पना करता है। जब तक इस की द्वैतदृष्टि बनी रहेगी तब तक इस के बन्धन रहेगा, और जब इस की यह द्वैतभावना नष्ट होगी उस समय मोक्ष होगी। इसी प्रकार जिस सम्यग्दर्शन के उपशम आदि भेद हैं वह भी व्यवहार सम्यग्दर्शन है। क्योंकि भेद विकृत अवस्था का द्योतक है। इसी प्रकार सम्यग्दर्शन के भेदप्रभेदआगादि का कथन भी उस के विकार का द्योतक है। विकृत को 'शुद्ध' व्यवहार से ही कहा जाता है। इस प्रकार आचार्यों ने व्यवहार का अनेक प्रकार से वर्णन किया है।

प्रश्न—श्रीमान् पं० टोडरमल जी ने मोक्षमार्ग प्रकाशक में विपरीताभिनिवेश रहित सम्यग्दर्शन को निश्चय सम्यग्दर्शन माना है और आप उस को व्यवहार कहते हैं, यह विरुद्ध कथन है।

उत्तर—सात प्रकृतियों के उपशम, क्षय, क्षयोपशम से जो आत्म-परिणाम होता है उस को वहाँ सम्यग्दर्शन के नाम से कहा है, और उसी को निश्चय माना गया है। तथा उन की कथनशैली ही पृथक है। उन के कथनानुसार सम्यग्दर्शन के व्यवहार आदि भेद नहीं है, अपितु उस सम्यक्त्व को साक्षात् मोक्षका कारण मानना व्यवहार है। यही हम कहते हैं, कि यह रत्नत्रय साक्षात् मोक्ष के कारण नहीं हैं, अपितु परंपरा मोक्ष के कारण हैं। अतः इन को व्यवहार नय से मोक्ष का कारण कहते हैं। अर्थात् सम्यग्दर्शन व्यवहार और निश्चय नहीं है अपितु यह व्यवहार नय से मोक्ष का कारण है, इसी लिये इसे व्यवहार सम्यग्दर्शन कहते हैं। यही बात मोक्षमार्ग प्रकाशक में है। तथा च स्वनामधन्य प० टोडरमल जो जैसे महान् विद्वान् आचार्यों के विरुद्ध कह भी कैसे सकते थे।

प्रश्न—किन आचार्यों ने विपरीताभिनिवेश रहित सम्यग्दर्शन को व्यवहार सम्यग्दर्शन माना है। उनके नाम तथा शास्त्रों के पूरे पते सहित बताने का कृपा करें। क्योंकि वर्तमान समय के प्राय सभी विद्वान सात प्रकृतियो के उपशम आदि से प्रकट होने वाले सम्यग्दर्शन को निश्चय सम्यग्दर्शन कहते हैं।

उत्तर—सम्पूर्ण दिगम्बर जैनाचार्यों ने इस को व्यवहार सम्यग्दर्शन माना है। हम क्रमशः उनका उल्लेख करते हैं।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य

केवलीकल्प श्री कुन्दकुन्दाचार्य का स्थान सर्वोपरि है। जैनसिद्धान्त की परीक्षा उन्हीं के वाक्यों के आसरे से की जासकती है। अतः अब हम उनके वचनामृतो का रसास्वाद कराना चाहते हैं।

जीवादीनां श्रद्धानं सम्यक्त्वं जिनवरैर्निर्दिष्टम् ।
व्यवहारात् निश्चयत: आत्मा भवति सम्यक्त्वम् ॥

षट्प्राभृत० दर्शनप्रा०

सम्यक्त्वरत्नसारं मोक्षमहावृक्षमूलमिति भणितम् ।
तज्ज्ञायतेनिश्चय व्यवहारस्वरूप द्विभेदन ॥

रयणसार गा० ४

आप्तागम तत्त्वानां श्रद्धानं भवति सम्यक्त्वम् ।

नियमसार गा० ५

संस्कृतटीका—अथवा जीवाजीव स्रवसंवरनिर्जरा बन्धमोक्षाणां भेदान सप्तधा भवन्ति । तेषां सम्यक्श्रद्धानं व्यवहारसम्यक्त्वमिति ।

आत्माआत्मनिरत: सम्यग्दृष्टिर्भवति स्फुटं जीव: ।
जानाति तत् सज्ञानं चरतीह चारित्रमार्ग इति ॥

भावपाहुड० गा० ३१

टीका—आत्मा आत्मनिरत आत्मन श्रद्धापर: सम्यग्दृष्टिर्भवति स्फुटं निश्चयनयेन । व्यवहारनयेन तु तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शन भवति, जीव-आत्मा सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्य । जानाति तं आत्मानं तत्सदज्ञान सम्यग्ज्ञानं भवति, व्यवहारेण तु सप्ततत्वानि जानाति तत्सम्यग्ज्ञानं भवति । तं आत्मान जीवोऽयश्चरति तन्मयो भवति आत्मन्येक लोलीभावो भवति इहास्मिन् संसारे, चारित्रमार्ग इति, व्यवहारेण तु पापक्रियाविरमण चरणं भवति ।

स्वद्रव्यरत: श्रमण: सम्यग्दृष्टिर्भवति नियमेन ।
सम्यक्त्वपरिणत: पुन क्षिपते दुष्टाष्टकर्माणि ॥ १४ ॥

मोक्षपाहुड

तत्त्वरुचि. सम्यक्त्वं तत्त्वग्रहणं च भवति संज्ञानम् ।
चारित्र परिहार: प्रजल्पित जिनवरेन्द्रै: ॥ ३८ ॥ मो० पा०

टीका—तत्त्वरुचि सम्यक्त्व तत्त्वाना जीवाजीवास्रवबन्ध संवरनिर्जरा-मोक्षलक्षणोपलक्षितानां रुचि श्रद्धा सम्यक्त्वमुच्यते । "तत्त्वार्थश्रद्धान

सम्यग्दर्शनम्" इति वचनात। यह व्यवहार सम्यक्त्व है। निश्चय सम्यक्त्वका कथन पूर्व गाथा में किया है। गाथा १४ में तथा ३६–३७ में भी निश्चय रत्नत्रय का कथन है तत्पश्चात् गाथा ३७ मे व्यवहार सम्यग्दर्शन का कथन है। तत्वार्थसूत्र में जिस सम्यग्दर्शन का कथन है वह व्यवहार सम्यग्दर्शन है यह भी यहां सिद्ध किया गया है।

भावार्थ—पूर्वोक्त गाथाओं का भावार्थ यह है कि सम्यक्त्व-रत्नसार ही मोक्षरूपी वृक्षका मूल है। वह सम्यक्त्व जिनवर देव ने २ प्रकार का कहा है १ व्यवहार २ निश्चय। सात तत्वों का श्रद्धानरूप व्यवहार सम्यक्त्व है और आत्मा मे तद्रूप होकर आत्मानुभव करना निश्चय सम्यक्त्व है। तथा अपनी आत्मा में रतश्रमण: मुनि नियम से निश्चय से सम्यग्दृष्टि होता है और वह मुनि सम्यक्त्व में (आत्मा मे) रत होने के कारण शीघ्र ही कर्मों से मुक्ति पा लेता है। गा० १४ मोक्षपाहुड। यह निश्चय-सम्यक्त्व का कथन है। इस से यह बात सिद्ध हो गई कि निश्चय सम्यक्त्व मुनि ही प्राप्त कर सकता है। निश्चय सम्यक्त्व का कथन हम आगे करेंगे। तत्वरुचिका नाम सम्यक्त्व (व्यवहारसम्यक्त्व) है यही मोक्ष शास्त्र में "तत्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्" कहा गया है यह भी व्यवहार सम्यग्दर्शन है।

पंचास्तिकाय

सम्यक्त्व श्रद्धान भावानां तेषामधिगमो ज्ञानम् ॥ १०७ ॥

इस गाथा की टीका करते हुये श्री जैसेनाचार्य लिखते हैं—

अथ व्यवहार सम्यक्त्व कथ्यते।—

सम्यक्त्वं भवति। किं कर्तृ। सद्दहणं मिथ्यात्वोदयजनित विपरीताभिनिवेशरहित श्रद्धानम्। केषां संबन्धि (भावानाम्) पचास्तिकाय षड्द्रव्यविकल्परूपं जीवाजीवद्वयं जीवपुद्गल संयोगपरिणामोत्पन्नास्रवादिपदार्थसप्तकं, चेत्युक्त लक्षणानां भावानां जीवादिनवपदार्थानाम्। इदं तु नवपदार्थविषयभूतं व्यवहारसम्यक्त्वम्।

अर्थ—अब व्यवहार सम्यक्त्व का कथन करते हैं। मिथ्यात्व उदय-जनित विपरीताभिनिवेश रहित जो सप्ततत्वों का श्रद्धान है वह व्यवहार सम्यग्दर्शन है। अर्थात अनन्तानुबन्धी तथा दर्शनमोहनीयजनित जो विपरीत रुचि है उस के नाश से जो तत्वार्थश्रद्धान होता है वह व्यवहार सम्यग्दर्शन है। क्योंकि यह नव या सात पदार्थों को विषय करता है इस लिये यह व्यवहार सम्यग्दर्शन है। यह व्यवहार सम्यग्दर्शन निश्चय सम्यक्त्व का कारण है। इसी गाथा की टीका अमृतचन्द्राचार्य ने की है जिस का खुलासा निम्न प्रकार किया गया है—

'काललब्धि के प्रभाव से मिथ्यात्व नष्ट होय तब पदार्थों की जो यथार्थ प्रतीति होय उस का नाम सम्यग्दर्शन है। यही सम्यग्दर्शन शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मपदार्थ के निश्चय कराने का बीजभूत है।" अर्थात् मिथ्यात्व प्रकृति के नष्ट होने से जो सम्यग्दर्शन होता है वह निश्चय सम्यग्दर्शन का कारण है। अत वह व्यवहार सम्यग्दर्शन है।

धर्मादिश्रद्धानं सम्यक्त्वं ज्ञानमंगपूर्वगतम् ।

चेष्टा तपसिचर्या व्यवहारो मोक्षमार्ग इति ॥ १६० ॥

अर्थात धर्म अधर्म, काल, आकाशादि द्रव्यों का अथवा सप्त तत्वों (पदार्थों) का श्रद्धान अर्थात प्रतीति सो तो व्यवहारसम्यक्त्व है। ग्यारह अंग १४ पूर्व रूपी श्रुतज्ञान है वह व्यवहारसम्यग्ज्ञान है। १२ प्रकार का तप और १३ प्रकार का चारित्र व्यवहारचारित्र है। इस पर अमृत-चन्द्राचार्य लिखते हैं। "यह व्यवहार मोक्षमार्ग जीवपुद्गल के सम्बन्ध का कारण पाकर जो पर्याय उत्पन्न हुआ है उसी के आधीन है। इस में साध्यभिन्न है—साधनभिन्न है। साध्यनिश्चय मोक्षमार्ग है, साधनव्यव-हार मोक्षमार्ग है। .... जो जीव सम्यग्दर्शनादिक से अन्तरंग में सावधान है उस जीव के सब जगह ऊपर के गुणस्थानों में शुद्ध स्वरूप की वृद्धि से अतिशय मनोज्ञता है। उन गुणस्थानों में स्थिरता को धारण करता है ऐसा यह व्यवहार मोक्षमार्ग है।" तथा च गाथा १५०-१५१ की व्याख्या करते हुये श्री जैसेनाचार्य लिखते हैं—

"यदाय जीव. आगमभाषया काललब्धिरूपमध्यात्मभाषया शुद्धात्माभि-मुखपरिणामरूपं स्वसंवेदनज्ञानं लभते तदा प्रथमस्तावन्मिथ्यात्वादि सप्तप्रकृतीनामुपशमेन क्षयोपशमेन च सरागसम्यग्दृष्टिर्भूत्वा पंच-परमेष्ठि भक्ति आदिरूपेण, पराश्रित धर्म्मध्यानबहिरंगसहकारित्वेनानन्त-ज्ञानादिस्वरूपोऽहमित्यादिभावनास्वरूपमाश्रितं धर्मध्यान प्राप्य आगम-कथितक्रमेणासंयतसम्यग्दृष्ट्यादि गुणस्थानचतुष्टयमध्ये क्वापिगुणस्थाने दर्शनमोह क्षयेण क्षायिकसम्यक्त्वं कृत्वातअन्तरमपूर्वादि गुणस्थानेषु प्रथमशुक्लध्यानमनुभूय रागद्वेषरूपचारित्रमोहोदयाभावेन निर्विकार शुद्धात्मानुभूतिरूपं चारित्रमोहविध्वंसन समर्थंवीतरागचारित्र प्राप्य....." (मोहक्षय करोति)।

अर्थ – जब यह जीवकाल लब्धिपाकर स्वसंवेदन ज्ञान प्राप्त करता है उस समय प्रथम तो यह सात प्रकृतियों के उपशम से अथवा क्षयो-पशम से सराग (व्यवहार) सम्यक्त्व को प्राप्त करके पंचपरमेष्ठि आदि की भक्तिरूप शुभोपयोगरूप पराश्रित (व्यवहार) धर्म्मध्यान में लग कर अपने को अनन्तचतुष्टय (अनन्त ज्ञान सुख, दर्शन, वीर्य) रूप अनुभव कर के पुन चतुर्थ गुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान में से किसी भी गुणस्थान में दर्शनमोहनीय का क्षय कर के क्षायिक सम्यग्दृष्टि होता है। पुनः वह जीव प्रथम शुक्लध्यान में लीन होकर निर्विकार शुद्धात्मानुभूति द्वारा राग-द्वेष रूपचारित्र मोह का क्षय कर के वीतराग-चारित्र को प्राप्त कर के मोक्ष प्राप्त करता है।

उपरोक्त कथन से यह बात तो स्पष्ट सिद्ध होगई कि औपशमिक और क्षयोपशमिक सम्यग्दर्शन तो व्यवहारदृष्टि से ही सम्यग्दर्शन है। तथा क्षायिक सम्यक्त्व दोनों प्रकार का होता है वह भी जब तक रागभाव को लिये हुये है उस समय तक व्यवहार ही कहलाता है। इस का विवेचन आगे करेंगे। पंचास्तिकाय की श्रीजैसेनाचार्यकृत टीका में अनेक स्थानों पर व्यवहार सम्यग्दर्शन का विशद वर्णन है यहाँ विस्तार भय से संक्षेप से लिखा गया है। तथा च

विपरीताभिनिवेशविवर्जित श्रद्धानमेव सम्यक्त्वम् ।
चलमलिनमगाढ़त्व विवर्जित श्रद्धानमेव सम्यक्त्वम् ॥
सम्यक्त्वस्य निमित्त जिनसूत्रं तस्यज्ञायकाः पुरुषाः ।
अन्तर्हेतवे भणिताः दर्शनमोहस्य क्षयप्रभृतेः ॥
सम्यक्त्वं संज्ञान विद्यते मोक्षस्य भवति शृणुचरणम् ।
—नियमसार गाथा ५१ से ५४ तक ।

इन के ऊपर सस्कृत टीका है जिस का भाषार्थ स्वर्गीय ब्र० शीतल-प्रसाद जी ने निम्न प्रकार से किया है—

"उलटे अभिप्राय से रहित श्रद्धान है वही सम्यक्त्व है। चल, मलिन, अगाढ, दोषों से रहित जो श्रद्धान है वही सम्यक्त है। सम्यक्त का निमित्त जिनसूत्र है, अर्थात् जैनशास्त्रो के द्वारा जो भाव ज्ञान होता है वही सम्यक्त होने का निमित्त है। जिन सूत्रो के ज्ञायक पुरुषो को सम्यक्त होने मे अन्तरग कारण दर्शनमोहनीय का क्षय क्षयोपशम, तथा उपशम है।"

"विशेषार्थ—इन गाथाओं मे रत्नत्रय के स्वरूप का वर्णन है। भेदोपचाररूप। व्यवहार रूप रत्नत्रय मे प्रथम व्यवहार सम्यग्दर्शन विपरीताभिप्राय रहित सात तत्वों का श्रद्धानरूप है। सम्यग्दर्शन के होने मे अन्तरंग कारण दर्शनमोहनीय कर्मका क्षय उपशम, अथवा क्षयोपशम है।"

इस ग्रन्थ के सस्कृत टीकाकार निर्ग्रन्थ मुनि श्री पद्मप्रभमलधारी देव हैं। उन्ही की सस्कृत टीका का यह भाषान्तर विशेषार्थ है। इस मे स्पष्टरूप से क्षायिक, औपशमिक व क्षायोपशमिक, सम्यक्त्व को व्यवहार सम्यक्त्व लिखा है*। इतने स्पष्ट प्रमाणों की विद्यमानता मे जो विद्वान

* सस्कृत टीका मे स्पष्ट लिखा है कि—' भेदोपचार रत्नत्रयमपि तावद् विपरीताभिनिवेशविवर्जितश्रद्धानरूप भगवता सिद्धिपरपराहेतुभूताना पञ्च-परमेष्ठिना चलमलिनागाढविवर्जितसमुपजनितनिश्चलभक्ति युक्तत्वमेव । .... ' अन्तरंगहेतव इत्युक्ताः, दर्शनमोहनीय क्षयप्रभृते सकाशादिति ।
मूलगाथओ मे ही क्षायिक सम्यक्त्व को भी व्यवहार सम्यक्त्व कहा है।

इन मन्तव्यों को निश्चयसम्यक्त्व कहते हैं। उन की दृढ़ बुद्धि पर तरस आता है।

समयसार

श्री कुन्दकुन्दाचार्य महाराज का सब से सुप्रसिद्ध ग्रन्थ समयसार है। समयसार की टीका करते हुये पं० मनोहरलाल ने लिखा है कि--"जैन मत मे मोक्षमार्ग के वर्णन में पहले सम्यग्दर्शन मुख्य (प्रधान) कहा गया है सो व्यवहार नयकर तो सम्यग्दर्शन भेदरूप अन्य ग्रन्थों मे अनेक प्रकार कहा है वह प्रसिद्ध ही है। परन्तु इस ग्रन्थमें शुद्धनय का विषय जो शुद्धात्मा उसी के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन एक ही प्रकार नियम से कहा गया है सो लोक मे यह कथन बहुधा प्रसिद्ध नहीं है, इस लिये व्यवहार को लोक समझते हैं। पहले लोगों मे अशुभ व्यवहार था उसको निषेध कर व्यवहारनय शुभ मे प्रवर्ताती है सो लोक अशुभ की पक्ष को छोड शुभ मे प्रवर्तते हैं। कदाचित् शुभ का ही पक्ष पकड इसी का एकान्त किया जाय तो पहले अशुभ की पक्ष का एकान्त था अब शुभ का एकान्त हुआ, इसी को मोक्षमार्ग माना तब मिथ्यात्व ही दृढ़ हुआ। इस लिये शुभ की पक्ष छुडाने को शुद्धनय के आलम्बन का उपदेश है। इसी को निश्चयनय कह सत्यार्थ कहा है, अशुद्धनय को व्यवहार कर असत्यार्थ कहा है। क्योंकि व्यवहार शुभाशुभरूप है बन्ध का कारण है, इस मे तो प्राणी अनादिकाल से ही प्रवर्त रहा है शुद्धनय-रूप कभी हुआ नहीं इस लिये इस का उपदेश सुन इस में लीन होके व्यवहार का आलम्बन छोडे तब बंध का अभाव कर सकता है। तथा स्वरूप की प्राप्ति होने के बाद शुद्ध-अशुद्ध दोनों ही नयों का आलम्बन नहीं रहता। नय का आलम्बन तो साधक अवस्था मे ही प्रयोजनवान है। सो इस ग्रन्थ मे ऐसा वर्णन है। इस लिये इस को खुलासा कर स्पष्ट अर्थ वचनिकारूप लिखा जाय तो सर्वथा एकान्त की पक्ष मिट जाय, स्याद्वाद का मर्म यथार्थ समझे, यथार्थ श्रद्धान होवे तब मिथ्यात्व

का नाश हो, यह भी वचनिका बनाने का प्रयोजन है। तथा ऐसा भी जानना है कि स्वरूप की प्राप्ति दो प्रकार से होती है, प्रथम तो यथार्थ-ज्ञान होकर श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन होना सो यह तो अविरत सम्यग्दृष्टि चतुर्थ गुणस्थान वाले के भी होता है वहां बाह्य व्यवहार तो अविरतरूप ही है वहां व्यवहार का आलम्बन है ही, और अन्तरंग सब नयों के पक्षपात रहित अनेकान्त तत्वार्थ की श्रद्धा होती है। जब संयम धार प्रमत्ताप्रमत्त गुणस्थानवर्ती मुनि होय जब तक साक्षात् शुद्धोपयोग की प्राप्ति न होय श्रेणी न चढ़े तब तक तो शुभरूप व्यवहार का भी बाह्य आलम्बन रहता है। तथा दूसरा साक्षात् शुद्धोपयोगरूप वीतराग चारित्र का होना है। वह अनुभव में शुद्धोपयोग की साक्षात् प्राप्ति है उस में व्यवहार का भी आलम्बन नहीं है और शुद्धनय का भी आलम्बन नहीं क्योंकि आप साक्षात शुद्धोपयोगरू हुआ तब नय का आलम्बन कैसा? नय का आलम्बन तो जब तक राग अंश था तब तक ही था। इस तरह अपने स्वरूप की प्राप्ति के होने बाद पहले तो श्रद्धा मे नय पक्ष मिट जाता है पीछे साक्षात् वीतराग होय तब चारित्र का पक्षपात मिटता है।"

यहां स्पष्टरूप से कहा गया है कि समयसार में निश्चय सम्यग्दर्शन का ही कथन है, और वह शुद्धोपयोगी के ही होता है। यही बात श्री जैसेनाचार्य ने लिखी है। यथा,--अस्मिन् ग्रंथे वस्तुवृत्त्या वीतरागसम्यग्दृष्टेर्ग्रहणम्। पृ० २७४ गाथा, १६३

> शुद्ध शुद्धादेशो ज्ञातव्य परमभावदर्शिभिः।
> व्यवहारदेशिताः पुनर्येस्त्वपरमे स्थित भावे ॥ गा० १२

अथ पूर्वगाथायां भणित भूतार्थनयाश्रितो जीव सम्यग्दृष्टिर्भवति। अत्र तु न केवलं भूतार्थो निश्चय नयो निर्विकल्प समाधिरतानां प्रयोजनवान् भवति। किन्तु निर्विकल्प समाधिरहितानां पुन षोडशवर्णिका सुवर्ण-लाभाभावे अधस्तनवर्णिकासुवर्णलाभवत्केषांचित्प्राथमिकानां कदाचित् सविकल्पावस्थायां मिथ्यात्वविषयकषाय दुर्ध्यानवञ्चनाथ व्यवहारनयोपि

प्रयोजनवान् भवतीति प्रतिपादयति—सुद्धोशुद्धनय· निश्चयनयः। कथं भूतः। सुद्धादेशो शुद्धद्रव्यस्यादेशः कथनं यत्र स भव।त शुद्धादेश। णा।दव्वो ज्ञातव्यः भावयितव्यः। कै०। परमभावदरसीहिं शुद्धात्मभाव-दर्शिभि कस्मादितिचेत्। यत. षोणशवर्णिका कार्त्तस्वर लाभवदभेद-रत्नत्रयस्वरूप समाधिकाले स प्रयोजनो भवति। निःप्रयोजनो न भवती-त्यर्थ·। ववहारदेसिदो—व्यवहारेण विकल्पेन भेदेन पर्यायेणादेशितः कथित इति व्यवहार देशितो व्यवहारनय· पुण: पुनः अधस्तनवर्णिक-सुवर्णलाभवत्प्रयोजनवान् भवति। केषां जे ये पुरुषा· दु पुनः अपरमे अशुद्धे असयत सम्यग्दृष्ट्यपेक्षया श्रावकापेक्षया वा सरागसम्यग्दृष्टि लक्षणे शुभोपयोगे प्रमत्ताप्रमत्त संयतापेक्षया च भेदरत्नत्रयलक्षणे वा ठिदा स्थिता·। कस्मिन् स्थिताः। भावे जीव पदार्थे तेषामितिभाव·।

भावार्थ—पहली गाथा मे कहा गया कि निश्चयनय मे आश्रित करने वाला जीव सम्यग्दृष्टि होता है। इस गाथा में निश्यनय निर्विकल्पक समाधिस्थित पुरषो के लिये प्रयोजन वाला होता है, किन्तु निर्विकल्प समाधिरहित पुरुषों के लिये १६ आंच वाले शुद्धस्वर्ण के अभाव मे कम आंचवाले अशुद्धसोनेको प्राप्त करने वाले की तरह किसी समय सविकल्पक अवस्था मे मिथ्यात्व विषय कषाय आदि को त्यागने के लिये व्यवहारनय भी प्रयोजन वाला होता है यह कथम करते हैं। किन के लिये प्रयोजनवान होता है यह दिखाते हैं –
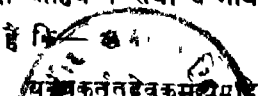
अशुद्धे असयतसंम्यग्दृष्ट्यपेक्षया वा श्रावकापेक्षया। जो चतुर्थगुण-स्थान स लेकर सातवे गुणस्थान तक के किसी भी गुणस्थान मे टिकने वाले पुरुष हैं वे व्यवहारसम्यग्दृष्टी हैं, सरागसम्यक्त्वी हैं। क्योंकि वे सब अशुद्धात्मा में स्थित हैं। अतः यह व्यवहार रत्नत्रय उन के लिये उपयोगी है।' इसी गाथा की टीका करते हुये श्री जैसनाचार्य लिखते हैं।

निश्चयनयेन निश्चयचारित्राविनाभाविनिश्चयसम्यक्त्वं वीतराग-सम्यक्त्व भण्यते। अथवा नवपदार्था भूतार्थेन ज्ञाता सन्तस्त एव भेदोपचारेण सम्यक्त्वविषयत्वाद् व्यवहारसम्यक्त्वनिमित्त भवन्ति।

यद्यपि नवपदार्थाः तीर्थप्रवर्तनिमित्तं प्राथमिकशिष्यापेक्षयाभूतार्था भण्यते, तथाप्यभेदरत्नत्रयलक्षणनिर्विकल्पसमाधिकाले अभूतार्था असत्यार्थाः शुद्धात्मरूपं न भवन्ति। तस्मिन् परमसमाधिकाले नवपदार्थमध्ये शुद्धनिश्चयनयेनैक एव शुद्धात्माप्रद्योतते, प्रकाशयते, प्रतीयते, अनुभूयत इति।

अर्थ—निश्चयनयसे वीतराग 'चारित्र' का अविनाभावी जो सम्यग्दर्शन है उस को वीतराग, निश्चयसम्यग्दर्शन कहते हैं। तथा नवपदार्थ भूतार्थ से जाने गये श्रद्धान किये गये सम्यक्त्व का विषय होते हैं वह व्यवहार सम्यक्त्व है। इन नवपदार्थों को जो भूतार्थ कहा गया है यह प्रथम श्रेणी के शिष्यों के लिये अर्थात् बालबुद्धि वालों के लिये है। वास्तव में अभेद रत्नत्रय, निश्चय रत्नत्रय की अवस्था में तो ये सब अभूतार्थ असत्यार्थ हैं। क्योंकि उस परम निर्विकल्प समाधि अवस्था में तो केवल एक शुद्धात्मा ही प्रतीत होता है अनुभूत होता है।"

उपरोक्त प्रमाण से यह स्पष्ट सिद्ध होगया कि सातवें अप्रमत्त गुणस्थान तक तो निश्चितरूप से व्यवहार सम्यग्दर्शन होता है तथा आठवे गुणस्थान से निश्चय सम्यक्त्व प्रारम्भ होता है। और परम समाधिकाल में इन नव पदार्थों का कुछ भी भान नहीं रहता वहां तो केवल एक अद्वैत शुद्धात्मा का ही अनुभव होता है। तथा च इन नवपदार्थों का कथन साधारण जनों के लिये है। जैन सिद्धान्त के प्रचार के लिये इन का विस्तार है। परन्तु परमसमाधीकाल में तो इन सब बातों का कहीं भी निशान नहीं रहता। अतः उस अवस्था में ये निरुपयोगी, निष्फल, असत्य हैं। यही जैनसिद्धान्त का वास्तविक मर्म है। जो विद्वान् चतुर्थ गुणस्थान में ही सम्यक्त्व की पूर्णता तथा पूर्ण निर्मलता मानते हैं उनको इन प्रमाणों से अपने भ्रम को दूर करना चाहिये। तथा च गाथा ३७३ की टीका करते हुये श्रीमदाचार्य लिखते हैं कि—

व्यवहारेण कर्तृकर्मणोर्भेद, निश्चयेनपुनः, यएवकर्तृतदेवकर्मप्रति-

शति ।—एकेन्द्रियविकलेन्द्रियादिदुर्लभपरं पराक्रमेणातीतानतकाले दृष्टश्रुतानुभूतमिथ्यात्वविषयकषायादिविभावपरिणामाधानतया अत्यन्तदुर्लभेन कथंचित् कालादिलब्धिवशेन मिथ्यात्वादि सप्तप्रकृतीनां तथैवचारित्रमोहनीयस्य चोपशमक्षयोपशमक्षये सति षड्द्रव्यपंचास्तिकाय सप्ततत्त्वनवपदार्थादिश्रद्धानज्ञानरागद्वेषपरिहाररूपेण भेदरत्नत्रयात्मकव्यवहारमोक्षमार्गसंज्ञेन व्यवहारकारणसमयसारेण साध्येन विशुद्ध ज्ञानदर्शनस्वभावशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धान ज्ञानानुचरणरूपाभेदरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिरूपेण अनन्तकेवलज्ञानादिचतुष्टयव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारस्योत्पादकेन निश्चयकारणसमयसारेण विना खल्वज्ञानिजीवो रुष्यति तुष्यति च ।

अर्थ—कर्ता कर्म आदि का भेद व्यवहार मात्र से है, निश्चय नय से जो कर्ता है वही कर्म है, वही करण व सम्प्रदान, अपादान आदि हैं। अर्थात निश्चय नय में कारको के भेद नहीं रहते वहां तो अभेद मात्र है। व्यवहार का कथन कर चुके अब निश्चय नय से कर्ता, कर्म का अभेद कथन करते हैं।

दुर्लभतम इस मनुष्य जन्म को पाकर सौभाग्य से कालादि लब्धि प्राप्त कर के मिथ्यात्व आदि सप्त प्रकृतियों का उपशम क्षयोपशम व क्षय कर के षड्द्रव्य नवपदार्थ सात तत्त्वों आदि का श्रद्धान, ज्ञान, रागद्वेष परिहाररूप भेद रत्नत्रयात्मक व्यवहार मोक्षमार्ग व व्यवहार समयसार तथा विशुद्ध ज्ञानदर्शन स्वभाव शुद्धात्मतत्त्व का सम्यक्श्रद्धान ज्ञानानुचरण रूप अभेद (निश्चय) रत्नत्रयात्मक निर्विकल्प समाधिरूप मे केवलज्ञानादि अनन्त चतुष्टयरूप स्वानुभवरूप निश्चय समयसार से रहित अज्ञानी जन वाह्य शब्दादि मे कभी तो रुष्ट होता है, तथा कभी सतुष्ट होता है। यहा सरल व सुन्दर शब्दों मे स्पष्टरूपम, औपशमिक, क्षयोपशमिक और क्षायिक सम्यग्दर्शन को व्यवहार सम्यग्दर्शन कहा है। तथा परम समाधी अवस्था मे जो आत्मसाक्षात्कार होता है उसे ही निश्चय सम्यग्दर्शन माना गया है। यही सम्पूर्ण दिगम्बर जैनाचार्यों का सर्वतन्त्र

सिद्धान्त है। तथा च—

जीवादिनवपदार्थाना विपरीताभिनिवेशरहितत्वेन श्रद्धानं सम्यग्दर्शनं तेषामेव संशयविमोह विभ्रमरहितत्वेनाधिगमो निश्चयः परिज्ञान सम्यग्ज्ञान तषामेव सम्बन्धित्वेन रागादिपरिहारश्चारित्रम्। इत्येव व्यवहार मोक्षमार्गः। गाथा १५६ पृ० २२६

यहा भी विपरीताभिनिवेश रहित तत्त्वार्थ श्रद्धान को व्यवहार सम्यग्दर्शन कहा है।

मोक्षशास्त्र और सम्यग्दर्शन

तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शनम्॥ १। २॥

जीवादि, तत्वो का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन का लक्षण है। इस सूत्र की टीका करते हुये श्रीमान् प० पन्नालाल जी साहित्याचार्य ने लिखा है कि यह व्यवहार सम्यग्दर्शन का लक्षण है। इसी पुस्तक के ऊपर *श्रीमान् प० फूलचन्द जी सिद्धान्तशास्त्री का भी नाम है। अत* प्रतीत होता है कि वे भी उपरोक्त कथन से सहमत हैं। श्रीमान् प० राजेन्द्रकुमार जी न्यायतार्थ ने भी खतोली में इस बात का स्वीकार किया था कि "तत्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शनम्" सूत्र मे व्यवहार सम्यग्दर्शन का लक्षण है। अत यह सिद्ध हुआ कि यह व्यवहार सम्यग्दर्शन है। इस सम्यग्दर्शन के उत्पन्न होने मे वहिरग कारण परोपदेश आदि अनेक कारण हैं। परोपदेश पूर्वक को अधिगमज कहते हैं और दूसरे को निसर्गज कहते हैं अत उपरोक्त सम्यग्दर्शन २ प्रकार का कहलाता है। इन दोनो प्रकार के सम्यग्दर्शनों के उत्पन्न होने में अन्तरग कारण सप्त प्रकृतियों का उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम होना आवश्यक है। यही बात प० पन्नालाल जो ने नीचे नोट में लिखी है—' उक्त दोनों भेदों में मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व प्रकृति और अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन सात कर्म प्रकृतियों का उपशम, क्षय, अथवा क्षयोपशम होना आवश्यक है।"

इस से यह सिद्ध हो गया कि सात प्रकृतियों के उपशम क्षय आदि जो तत्वार्थश्रद्धान रूप सम्यक्त्व होता है वह व्यवहार सम्यग्दर्शन है।

अर्थप्रकाशिका

तत्वार्थसूत्र पर श्रीमान् पं० सदासुख जी कृत अर्थप्रकाशिका टीका है, उस में आप लिखते हैं कि "तत्वार्थनिका श्रद्धान सो सम्यग्दर्शन है सो सम्यक्त्व दोय प्रकार है, एक सराग सम्यक्त्व, एक वीतराग सम्यक्त्व। तहाँ प्रशम, संवेग, अनुकंपा, आस्तिक्य है लक्षण जाका ऐसा सराग सम्यक्त्व है। तहां रागादिन की उत्कटता का अभाव सो प्रशम है। यहां उत्कटता का 'अनन्तानुबन्धी' अर्थ है।" इत्यादि। आगे तीसरे सूत्र की टीका मे लिखा है कि "सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति विषय अन्तरंग हेतु जो दर्शन मोह का उपशम, क्षय, क्षयोपशम सो तो दोऊही (निसर्गज व अधिगमज) सम्यक्त्व में समान है।" यहा भी सराग (व्यवहार) सम्यक्त्व के लिये सात प्रकृतियों का क्षय आदि होना आवश्यक माना है।

भास्करनन्दी टीका

मैसूर स्टेट की तरफ से तत्त्वार्थसूत्र पर भास्करनन्दि आचार्यकृत एक टीका प्रकाशित हुई है। संस्कृत भाषा में ऐसी सरल टीका इस शास्त्र पर अन्य नहीं है। सुखबोधावृत्ति इस का नाम सार्थक ही है। इस में भी "तत्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्" इस सूत्र की टीका मे लिखा है कि—

"दर्शनमोहोपशमक्षय क्षयोपशमापेक्षम् विपरीताभिमानरहितमात्मस्वरूपं सम्यग्दर्शनं प्रत्येतव्यम्। तच्च सम्यग्दर्शन सराग वीतराग विकल्पाद् द्विविधम्। प्रशम संवेगानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्ति लक्षणं सरागसम्यक्त्वम्।"

अर्थ—दर्शनमोह के उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम से जो आत्मा में (विपरीताभिनिवेश रहित) तत्वार्थश्रद्धानभाव उत्पन्न होता है उस को

सम्यग्दर्शन कहते हैं। वह सम्यग्दर्शन २ प्रकार का है एक सराग (व्यवहार) दूसरा वीतराग (निश्चय)। प्रशम संवेग अनुकम्पा आस्तिक्य आदि भावों से युक्त व्यवहार सम्यग्दर्शन है।

सर्वार्थसिद्धि

सर्वार्थसिद्धि टीका में श्रीपूज्यपादाचार्य ने भी यही कथन किया—

उभयत्र सम्यग्दर्शने अन्तरंगो हेतुस्तुल्यः।
दर्शनमोहस्योपशमः क्षयः क्षयोपशमो वा॥

अभिप्राय यह है कि तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शन २ प्रकार का है "तद् द्विविधम्, सरागवीतराग विषयभेदात।" एक सराग दूसरा वीतराग इन दोनों के उत्पन्न होने में अन्तरंग कारण दर्शन मोहनीय का उपशम, क्षय, क्षयोपशम है। यहां भी सराग (व्यवहार) सम्यग्दर्शन के लिये दर्शनमोह का क्षय आदि होना आवश्यक है यह सिद्ध किया गया है।

श्लोकवार्तिक

सरागे वीतरागे च तस्य संभवतोऽञ्जसा।
प्रशमादेरभिव्यक्तिः शुद्धिमात्राच्च चेतसः॥

तत्रानन्तानुबंधिनां रागादिनां मिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्वयोश्चानुद्रेकः प्रशमः।

अभिप्राय यह है कि सम्यग्दर्शन दो प्रकार का है। एक सराग, दूसरा वीतराग। सराग (व्यवहार) सम्यग्दर्शन प्रशमसंवेग आदि युक्त होता है। प्रशम अनन्तानुबन्धी कषाय के अभाव से तथा दर्शन मोहनीय की मिथ्यात्व व सम्यक् मिथ्यात्व आदि प्रकृतियों के क्षय, उपशम आदि से उत्पन्न होनेवाला भाव है। अतः यहां भी उपरोक्त कथन की पुष्टि की गई है।

राजवार्तिक

जो पदार्थ जिस रूप से स्थित है उस का उसी रूप से श्रद्धान जिस के द्वारा हो वही सम्यग्दर्शन है । तद्‌द्विविधं सरागवीतरागविकल्पात्' यह दो प्रकार का है एक सराग, दूसरा वीतराग । सरागता का कारण सम्यग्दर्शन -- सरागसम्यग्दर्शन कहा जाता है और वीतरागताका कारण वीतरागसम्यग्दर्शन है । उनमें से प्रशम आदि लक्षणवाला सरागसम्यक्त्व है । सराग सम्यक्त्व के होने पर वीतराग सम्यक्त्व होता है । इस लिये सरागसम्यक्त्व कारण तथा वीतराग सम्यक्त्व कार्य है । तथा वीतराग स्वय कारण भी है और कार्य भी । राजवार्तिक प० मक्खनलाल जी मोरेना द्वारा की गई भाषा पृ० १२-१३ ।

यहां प मक्खनलाल जी ने सरागसम्यग्दर्शन का तथा वीतराग-सम्यक्त्व का सुन्दर अर्थ किया है । यही भाव पूज्यपादाचार्य ने सर्वार्थ-सिद्धि में व्यक्त किया है । "तद्‌द्विविधं सरागवीतरागविषयभेदात्' ।

यहा 'विषयभेदात्' से उपरोक्त भाव व्यक्त किया गया है कि वह सम्यग्दर्शन दो प्रकार का है सराग (व्यवहार) वीतराग (निश्चय) प्रथम सात प्रकृतियो के क्षय आदि से व्यवहारसम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है, यह सराग है, क्योंकि यह सरागताका अर्थात शुभोपयोग का कारण है । इसके प्रकट होनेपर आत्मा की शुभोपयोग में प्रवृत्ति होती है और शुभोप-योग से शुद्धोपयोग--वीतरागता प्राप्त होती है । अत. यह व्यवहार सम्यग्-दर्शन निश्चयसम्यग्दर्शन का कारण माना गया है । इस प्रकार तत्वार्थसूत्र के प्रायः सभी टीकाकारों ने यह माना है कि सराग अर्थात् व्यवहार सम्य-ग्दर्शन सात प्रकृतियो के क्षय आदि से होता है ।

तत्वार्थसार

श्रीमदाचार्य अमृतचन्द्र जी सूरि, तत्वार्थसार में लिखते हैं ।

निश्चयव्यवहाराभ्यां मोक्षमार्गो द्विधास्थितः ।

तत्राद्यः साध्यरूपः स्याद् द्वितीयस्तस्य साधनम् ॥
श्रद्धानाधिगमोपेक्षा या पुनः स्युः परात्मना ।
सम्यक्त्वं ज्ञानवृत्तात्मा स मार्गो व्यवहारतः ॥४॥
श्रद्दधानः परद्रव्यं बुध्यमानस्तदेव हि ।
तदेवोपेक्षमाणश्च व्यवहारी स्मृतो मुनिः ॥५॥

अर्थ—श्रद्धान की अपेक्षा वाला तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व चारित्र को भेददृष्टि से देखने व जाननेवाला जो सम्यक्त्व आदि गुण है वह व्यवहाररूप में मोक्षमार्ग कहलाता है। अर्थात् वास्तविक सम्यग्दर्शन नहीं है। ऐसे भेदरूपसे श्रद्धान करने वाले मुनि को व्यवहारी कहा जाता है। मिथ्यादृष्टी का श्रद्धानादि मोक्षमार्ग नहीं है। इस को शास्त्रों में रत्नत्रय नहीं माना है। वह तो केवल बाह्य श्रद्धान है।

निश्चयसम्यक्त्व

आत्मा ज्ञातृतया ज्ञानं सम्यक्त्वं चरितं हि सः। अधिकार, ६
स्वस्थो दर्शनचारित्र मोहाभ्यामुपप्लुत. ॥ ७ ॥

अर्थ—आत्मा ही ज्ञाता होने से ज्ञान है, तथा आत्मा ही सम्यग्दर्शन है और आत्मा ही चारित्र है। इस प्रकार अभेद अवस्था जिस की होगई है—जिसने सम्पूर्ण मोहनीय कर्म का नाश कर दिया है। उस के निश्चय रत्नत्रय होता है। यह निश्चय सम्यग्दर्शन वीतराग है इस की टीका करते हुये पं० वंशीधर जी शास्त्री लिखते हैं। "इस अभेदभेद का तात्पर्य समझ जाने पर यह बात भी माननी पड़ेगी कि व्यवहार रत्नत्रय यथार्थ रत्नत्रय नहीं है। इसी लिये इसे हेय कहते हैं। हेय होने पर भी उत्पन्न प्रथम यही होता है। इस लिये यह उत्तर के लिये उपयोगी है और वर्तमान में उपादेय है। परन्तु यदि साधु इसी में लगा रहे तो इस का यह व्यवहारमार्ग मिथ्यामार्ग है और निरुपयोगी है। कहना चाहिये कि उस ने उसे हेयरूप में न जान कर यथार्थरूप जान रक्खा है। जो

जिसे यथार्थरूप से जाना हुआ मानता है वह उसे कभी छोड़ता नहीं है। इस लिये उस साधु का यह व्यवहारमार्ग (व्यवहार रत्नत्रय) मिथ्या मार्ग है अथवा अज्ञानरूप संसार का कारण है।" रयणसार में भी इसी अपेक्षा से अन्तरात्मा को भी पर समय (मिथ्यात्वी) कहा है।

वास्तव में यह व्यवहार रत्नत्रय वास्तविक नहीं हैं ये तो निश्चय रत्नत्रय के कारण हैं। तथा निश्चय रत्नत्रय मोक्ष का कारण है (यही व्यवहारमार्ग में और निश्चयमार्ग में अन्तर है। व्यवहार रत्नत्रय संसार का कारण है, और निश्चय रत्नत्रय मोक्ष का कारण है। व्यवहार रत्नत्रय भी परंपरा मोक्ष का कारण है, इस लिये उन को भी उपचार से मोक्षमार्ग कहा है।

अनगारधर्म्मामृत

आचार्यकल्प श्रीमान् पंडितप्रवर—आशाधर जी ने अनगार धर्म्मामृत में लिखा है कि—

तत्सरागं विरागं च द्विविधौपशमिकं तथा।
क्षायिकं वेदकं त्रेधादशधाज्ञादि भेदतः॥ अ० २ । ४० ॥

वह सम्यग्दर्शन सराग, वीतराग, भेद से २ प्रकार का है तथा उपशम, क्षय, वेदक, भेद से ३ प्रकार का है। अथवा आज्ञा आदि भेद से १० प्रकार का है।"

सराग (व्यवहार)

ज्ञे सरागे सरागं स्याच्छमादिव्यक्तिलक्षणम्।
विरागे दर्शनं त्वात्म शुद्धिमात्रं विरागकम्॥ ५१॥

अर्थ—जिस के साथ में चारित्रमोहनीय का उदय पाया जाता है उस को सराग सम्यक्त्व कहते हैं। अतएव यह सराग तत्वज्ञों में चतुर्थ गुणस्थानीय असयत सम्यग्दृष्टि से लेकर सूक्ष्म साम्पराय दशवें गुण-

स्थानवर्ती जीवों तक में रहता है। (प्रशमसंवेगानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणं सराग सम्यक्त्वम् ...) —

स्थानवर्ती जीवों तक में रहता है। (क्षे पुंसि किं विशिष्टे सरागे असंयत सम्यग्दृष्ट्यादौ) यह सराग (व्यवहार) सम्यक्त्व प्रशम आदि गुणों से प्रकट होता है। तथा जीव की शुद्धि अर्थात् विशेष प्रकार की प्रसन्नता अथवा विशुद्धि को वीतराग सम्यक्त्व कहते हैं। यह ग्यारहवें तथा बारहवें गुणस्थान तक ही रहता है "आत्मनः शुद्धिमात्रं, न तत्र प्रशमादिचतुष्टयम् तत्र हि चारित्रमोहस्य सहकारिणोऽपायात्र प्रशमाद्यभिव्यक्तिः स्यात् केवलं स्वसंवेदनेनैव तद् वेद्यते " यहां यह स्पष्ट सिद्ध होगया कि दशवें गुणस्थान तक तो व्यवहार सम्यग्दर्शन रहता है और ग्यारहवें तथा बारहवें गुणस्थान में निश्चय वीतराग सम्यक्त्व रहता है पुनः यह निश्चय भी नहीं रहता। तथा यह भी समझ लेना चाहिये कि, सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक आदि में जो वीतराग को आत्मशुद्धि मात्र कहा है उस का अर्थ चारित्रमोहनीय के विकार से रहित है।

परमात्मप्रकाश

श्रीमद् योगीन्द्राचार्यविरचित परमात्मप्रकाश एक सुप्रसिद्ध अध्यात्म ग्रन्थ है। इस पर श्रीब्रह्मदेवजीकृत संस्कृत टीका है तथा श्रीमान् प० दौलतराम जीकृत भाषा टीका है। ये तीनों ही महापुरुष जैन सिद्धान्त के पारगामी हैं। व्यवहार और निश्चय सम्यक्त्व का स्वरूप इन्होंने बड़े सुन्दर व सरल शब्दों मे प्रकट किया है। यथा—

"यद्भुते व्यवहारनयः दर्शनज्ञानचारित्रं।
तत्परि जानीहि जीवस्त्वं येन परः भवति पवित्रः ॥१४०॥
द्रव्याणि जानाति यथास्थितानि तथा जगति मन्यते य एव।
आत्मनः संबद्धि भावः अविचलः दर्शनं स एव ॥१४१॥
जीवः सचेतनं द्रव्यं मन्यस्व पञ्च अचेतनानि अन्यानि।
पुद्गलः धर्माधर्मौ नभः कालेन सहितानि भिन्नानि ॥१४३॥

भावार्थ—हे जीव! तू तत्वार्थ का श्रद्धानशास्त्र का ज्ञान और

अशुभ क्रियाओं का त्यागरूप सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र व्यवहार मोक्षमार्ग को जान क्योंकि यह निश्चय मोक्षमार्ग के साधक हैं, इनके जाननेसे किसी समय परमपवित्र परमात्मा होजायगा। पहले व्यवहार रत्नत्रय की प्राप्ति हो तब हीनिश्चय रत्नत्रय की प्राप्ति होसकती है। इसमे सदेह नहीं है। जो अनन्त सिद्ध हुये और होवेंगे वह पहले व्यवहार रत्नत्रय को पाकर निश्चय रत्नत्रय रूप हुये। व्यवहार साधन है और निश्चय साध्य है। व्यवहार निश्चय मोक्षमार्ग का स्वरूप कहते हैं—वीतराग सर्वज्ञदेव के कहे हुये छह द्रव्य सात तत्व नौ पदार्थ पञ्चास्तिकाय इनका श्रद्धान इनके स्वरूप का ज्ञान और शुभ क्रिया का आचरण यह व्यवहार मोक्ष मार्ग है। और निज शुद्ध आत्मा का सम्यक् श्रद्धान स्वरूप का ज्ञान और आचरण यह निश्चय मोक्षमार्ग है। साधन के बिना सिद्धि नही होती। इसलिये व्यवहार के बिना निश्चय की प्राप्ति नही होती।

यह सुन शिष्य ने प्रश्न किया कि हे प्रभो, निश्चयमोक्षमार्ग जो निश्चय रत्नत्रय वह तो निर्विकल्प है और व्यवहार रत्नत्रय विकल्प सहित है, सो यह सविकल्प दशा निर्विकल्प पने की साधक कैसे हो सकती है? इस कारण उसको साधक मत कहो। उसका समाधान करते हैं—जो अनादि कालका यह जीव विषय कषायोंपर सर्लीन हो रहा है। सो व्यवहार साधन के विना उज्ज्वल नहीं हो सकता। जब मिथ्यात्व अव्रत-कषायादि की क्षीणता से देवगुरु धर्म की श्रद्धा करै, तत्वों का जानपना होवै, अशुभ क्रिया मिट जावै, तब वह अध्यात्म का अधिकारी हो सकता है। जैसे मलिन कपडे को धोवै तब रंगने योग्य होता है विना धोये रग नहीं लगता, इसलिये परमपराय मोक्ष का कारण व्यवहार रत्नत्रय कहा है। मोक्षमार्ग दो प्रकार है—एक व्यवहार, दूसरा निश्चय। निश्चय तो साक्षात् मोक्षमार्ग है और व्यवहार परम्पराय है। अथवा सविकल्प, निर्विकल्प भेद से निश्चय मोक्षमार्ग भी दो प्रकार का है। जो मैं अनन्त ज्ञानरूप हूँ, शुद्ध हूं, एक हूँ ऐसा "सोहं" का चिन्तवन है वह तो सवि-

रूप निश्चय मोक्षमार्ग है, उसको साधक कहते हैं, और जहा पर कुछ चिन्तवन नहीं है कुछ बोलना नही है और कुछ चेष्टा नही है वह निर्विकल्प समाधिरूप साध्य है यह तात्पर्य हुआ । इसी कथन के बारे में द्रव्यसग्रह की साख देते हैं । 'मो चिट्ठह" इत्यादि । श्री तत्वसार मे भी सविकल्प निर्विकल्प निश्चय मोक्षमार्ग के कथन मे यह गाथा कही है कि "जं पुण सगइ" इत्यादि । इसका सारांश यह है कि जो आत्मतत्व है वह भी सविकल्प निर्विकल्प के भेदकर दो प्रकार का है जो निर्विकल्प सहित है वह तो आस्रव सहित है और जो निर्विकल्प है वह आस्रव रहित है । १४० ॥

सम्यक्त्व दो प्रकार का है एक सराग सम्यक्त्व, दूसरा वीतराग सम्यक्त्व । सराग सम्यक्त्व का लक्षण कहते हैं—प्रशम, अर्थात् शान्तिपना, संवेग अर्थात् जिनधर्म की रुचि तथा जगत मे अरुचि, अनुकम्पा पर जीवों को दुखी देख कर दयाभाव और आस्तिक्य अर्थात् देवगुरु धर्म को तथा छह द्रव्यों की श्रद्धा इन चारो का होना वह व्यवहार सम्यक्त्वरूप सराग सम्यक्त्व है । और वीतराग सम्यक्त्व जो निश्चय सम्यक्त्व है । वह निज शुद्धात्मानुभूतिरूप वीतरागचारित्र से तन्मयी है । यह सुनकर प्रभाकर भट्ट ने प्रश्न किया । हे प्रभो ! निज शुद्धात्मा ही उपादेय है ऐसी रुचिरूप निश्चय सम्यक्त्व का कथन पहले (तुमने) अनेक बार किया फिर अब वीतराग चरित्र से तन्मयी निश्चय सम्यक्त्व है यह व्याख्यान करते हैं । यह तो पूर्वापर विरोध है । क्योंकि जो निज शुद्धात्मा ही उपादेय है ऐसी रुचिरूप निश्चय सम्यक्त्व तो गृहस्थ अवस्था में तीर्थंकर परमदेव, भरत चक्रवर्ती, सगर चक्रवर्ती और राम पाँडवादिक बडे बडे पुरुषो के रहता है, लेकिन उनके वीतरागचारित्र नही है । यही परस्पर विरोध है । यदि उनके वीतराग चारित्र माना जावे तो गृहस्थपना क्यों कहा ? यह प्रश्न किया । उसका उत्तर श्रीगुरु कहते हैं । उन महान (बडे) पुरुषों के शुद्धात्मा उपादेय है । ऐसी भावना रूप निश्चय सम्यक्त्व तो है परन्तु चारित्र मोह के उदय से थिरता नही

है। जब तक महाव्रत का उदय नहीं है तब तक असयमी कहलाते है।
शुद्धात्मा की अखंड भावना से रहित हुये भरत सगर, राघव पांडवादिक निर्दोष परमात्मा अरहंत सिद्धों के गुणस्तवनरूप स्तोत्रादि करते हैं और उनके चारित्र पुराणादिक सुनते हैं तथा उनकी आज्ञा के आराधक जो महान पुरुष, आचार्य, उपाध्याय, साधु उनको भक्ति से आहारदानादि करते हैं—पूजा करते हैं। विषय कषायरूप खोटे ध्यान के रोकने के लिये तथा संसार की स्थिति नाश करने के लिये ऐसी शुभ क्रिया करते हैं। इस लिये शुभ रागके संबंध से सम्यग्दृष्टि हैं और इनके निश्चय सम्यक्त्व भी कहा जा सकता है। क्योंकि वीतराग चारित्र से तन्मई निश्चय सम्यक्त्व के परंपराय साधकपना है। अब वास्तव में (असल में) विचारा जावे तो गृहस्थ अवस्था में इनके सराग सम्यक्त्व ही है और जो सराग सम्यक्त्व है वह व्यवहार ही है। ऐसा जानो १४३

द्रव्यसंग्रह

बृहद्द्रव्यसंग्रह में भी आचार्यवर ने स्पष्ट लिखा है --

मूढत्रयमदाष्टकषडनायतन शंकादिमलरहित शुद्धजीवादितत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणं सरागसम्यक्त्वाभिधानं व्यवहारसम्यक्त्वं विज्ञेयम्। तथैव तेनैव व्यवहारेण व्यवहारसम्यक्त्वेन पारम्पर्येण साध्य शुद्धोपयोगलक्षण निश्चयरत्नत्रयभावनोत्पन्नपरमाह्लादैकरूप सुखामृतरसास्वादनमेवोपादेयमिन्द्रियसुखादिकं च हेयमिति रुचिरूप वीतरागचारित्राविनाभूतं वीतरागसम्यक्त्वाभिधानं निश्चयसम्यक्त्वं च ज्ञातव्यम्।

अर्थ —"इस पूर्वोक्त प्रकार से तीन मूढता आठ मद, ६ अनायतन, और शंकादि आठ मद दोष रूप जो २५ मल हैं उन से रहित तथा शुद्ध जीवादि तत्त्वार्थों के श्रद्धानरूप लक्षणका धारक सराग सम्यक्त्व है, दूसरा नाम जिस का ऐसा व्यवहार सम्यक्त्व जानना चाहिये। और इसी प्रकार उसी व्यवहार सम्यक्त्व द्वारा परंपरा से साधने योग्य शुद्धोपयोगरूप निश्चयरत्नत्रय की भावना से उत्पन्न जो परमआल्हादरूप परमसुखामृत

का आस्वादन है वही उपादेय है और इन्द्रियजन्य सुखादिक हेय हैं ऐसी रुचिरूप तथा वीतरागचारित्र के विना नहीं उत्पन्न होने वाला ऐसा वीतराग सम्यक्त्व नाम का निश्चयसम्यक्त्व जानना चाहिये।" १६।

इसी प्रकार सम्पूर्ण दिगम्बर जैनाचार्यों ने सराग सम्यग्दर्शन और वीतराग सम्यग्दर्शन के लक्षण किये हैं। तथा सब आचार्यों ने सराग सम्यक्त्व को व्यवहार और वीतराग को निश्चय माना है इसी प्रकार (जो सम्यक्त्व) व्यवहार चारित्र का जो अविनाभावी है उसे व्यवहार सम्यग्दर्शन माना है, तथा जो निश्चयचारित्र का अविनाभावी है उस निश्चय सम्यग्दर्शन कहा है। अतः यह कह सकते हैं कि द्वितीय उपशम और द्वितीय क्षायिक सम्यक्त्व को निश्चय सम्यक्त्व कहते हैं, और प्रथम उपशम और प्रथम क्षायिक एवं क्षयोपशमिक को व्यवहार सम्यग्दर्शन कहते हैं। यहां श्री आचार्य ने २५ दोषरहित सम्यग्दर्शन को व्यवहार सम्यग्दर्शन कह कर, क्षायिक सम्यग्दर्शन को व्यवहार सम्यग्दर्शन माना है क्योंकि ये दोष क्षयोपशमिक सम्यक्त्व में तो लगते ही हैं।

आराधनासार

श्रीमद्देवसेनाचार्य आराधनासार मे लिखते हैं कि -

आराधनादिसारस्तपोदर्शनज्ञानचरणसमवाय ।
सद्विभेद उक्तो व्यवहारश्चैव परमार्थ ॥ २ ॥

ज्ञानदर्शनचारित्रतपोभिर्जिनभाषितैः ।
आराधनाचतुष्कस्य व्यवहारेण सारता ॥

अर्थात्—सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इन का समवाय अर्थात् इन का एकीभाव (आराधनाचतुष्टय) व्यवहार और निश्चय दो प्रकार का है। उस मे सम्यग्दर्शन ज्ञान व चारित्र और तप का स्वरूप सर्वज्ञ देव ने जैसा कहा है वैसा ही मानना श्रद्धान करना और उस पर

अमल करना व्यवहार आराधना चतुष्टय है। तथा श्लोक ४ की टीका करते हुये श्रीमदाचार्य देवकीर्ति जी लिखते हैं कि—

अथ व्यवहाराधनासारसामान्यलक्षणं प्रतिपाद्य तस्य प्रथमभेदस्य सम्यग्दर्शनाराधनाया लक्षण प्रतिपादयति सामान्यादेक सम्यग्दर्शन द्वितीय निसर्गजाधिगमजभेदात् त्रितय, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक भेदादेव सख्येया विकल्पा: असंख्येया अनन्ताश्च भवन्ति श्रद्धातृश्रद्धातव्यभेदात। इत्युक्तलक्षणा नानाविधा सूत्रोक्तय सन्ति अत्रतूपदेशो मुख्यवृत्त्या मनुष्यगतौ कथ्यते तद् भवमुक्त साधनत्वात। मूढत्रय आदि पञ्चविंशतिमलपरिहारेण ह्यस्य त्यागेनोपादेयस्यो पादानेन जीवादितत्त्वश्रद्धान विधीयते यत्र सा व्यवहारसम्यग्दर्शनाराधना सा च क्षपकेण प्रमत्तेनाराधनीयाभवतीति तात्पर्यम्।

भावार्थ—व्यवहार आराधना का सामान्य लक्षण कहकर अब उस के प्रथम अवयव व्यवहार सम्यग्दर्शन का कथन करते हैं। यह व्यवहार सम्यग्दर्शन सामान्यतया एक प्रकार का है, परन्तु उत्पत्ति की अपेक्षा से इस के निसर्गज व अधिगमज २ भेद हैं। तथा औपशमिक क्षायिक आदि तीन भेद से भी यह व्यवहार सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। इस प्रकार इस के सख्येय, असंख्येय अथवा श्रद्धातृ व श्रद्धातव्य भेद से इस के अनन्तभेद हैं। मूढत्रय आदि २५ दोष रहित तथा हेय उपादेय ज्ञान पूर्वक जीवादि तत्वों के श्रद्धान को व्यवहार सम्यग्दर्शन कहते हैं। यह व्यवहार सम्यग्दर्शन सप्त गुणस्थान के क्षपक तक के लिये आराध्य है अर्थात व्यवहार सम्यग्दर्शन सातवे गुणस्थान तक रहता है।

तत्त्वज्ञान तरंगिणी

श्रीमदाचार्य ज्ञानभूषण जी ने स्पष्ट लिखा है कि—

श्रद्धान दर्शन सप्ततत्त्वानां व्यवहारत:।
अष्टांग त्रिविध प्रोक्त तदौपशमिकादित: ॥ ६–१२ ॥

अर्थात् जिसके आठ अंग है, व औपशमिक, क्षायिकादि जिसके तीन भेद हैं, ऐसा सप्ततत्वों का श्रद्धानरूप जो सम्यग्दर्शन है, वह व्यवहार से सम्यग्दर्शन है। यहां आचार्य महाराज ने सुन्दर व सरल शब्दों द्वारा क्षायिक आदि सम्यग्दर्शन को व्यवहार सम्यग्दर्शन कहा है।

क्या क्षायिक निश्चय है ?

उपरोक्त कथन से यह स्पष्ट सिद्ध हो गया कि औपशमिक तथा क्षयोपशमिक और क्षायिक सम्यग्दर्शन व्यवहार सम्यग्दर्शन है। परन्तु कुछ प्रमाण ऐसे भी प्राप्त होते हैं। जिनमें क्षायिकसम्यक्त्व निश्चय वीतराग सम्यक्त्व प्रतीत होता है। इस के लिये हम सब से प्रथम श्रीमदाचार्यवर्य अकलंकदेव विरचित राजवार्तिक को ही लेते हैं। वहाँ स्पष्ट लिखा है कि—

एतत्सम्यग्दर्शनं द्विविधं कुतः. सराग वीतराग विकल्पात्। प्रशम संवेगानुकंपास्तिक्याभिव्यक्तलक्षणं प्रथमम्। आत्मशुद्धिमात्रमितरत्। सप्तानां कर्मप्रकृतीनां आत्यन्तिकेऽपगमे सत्यात्मविशुद्धिमात्रमितरद् वीतरागसम्यक्त्वमित्युच्यते। पूर्वं साधनं भवति उत्तरं साधनं साध्यं चेति।

अर्थ—सम्यग्दर्शन २ प्रकार का है (१) सराग (२) वीतराग।

(१) प्रथम, संवेगास्तिक्य आदि से जो प्रकट होता है वह सराग अर्थात् व्यवहारसम्यग्दर्शन है।

(२) सप्तकर्म प्रकृतियों के अत्यन्त क्षय से जो आत्मा की विशुद्धि मात्र होती है वह वीतराग अर्थात् निश्चय सम्यग्दर्शन है। इनमे प्रथम व्यवहार अर्थात् औपशमिक व क्षयोपशमिक साधन है, और निश्चय साधन भी और साध्य भी।

यहां स्पष्टरूप से सप्तप्रकृतियों के क्षय से जो सम्यग्दर्शन होता है उस को वीतराग अर्थात् निश्चय सम्यग्दर्शन कहा है तथा च—

श्री अमितगति आचार्य, लिखते हैं कि—

> वीतरागं सरागं च सम्यक्त्वं कथितं द्विधा।
> विरागं क्षायिकं तत्र सरागमपरं द्वयम् ॥ ६५ ॥
> संवेगप्रशमास्तिक्य कारुण्य व्यक्त लक्षणम्।
> सरागं पटुभिर्ज्ञेयमुपेक्षा लक्षणं परम् ॥ ६६ ॥

अमितिगति श्रावकाचार, परिच्छेद २

अर्थ—सम्यग्दर्शन सराग (व्यवहार) वीतराग (निश्चय) भेद से दो प्रकार का है। प्रशम, संवेग, दया, आस्तिक्य आदि लक्षण वाला सराग है और उपेक्षा अर्थात् उदासीन वृत्ति लक्षण वाला वीतराग है। औपशमिक और क्षयोपशमिक दोनों सराग अर्थात् व्यवहार हैं और क्षायिक वीतराग अर्थात् निश्चय है।

इसी प्रकार त्रैवर्णिकाचार अ० १० में क्षायिक सम्यक्त्व को उत्तम सम्यक्त्व माना है तथा क्षयोपशम को मध्यम और औपशमिक को अधम कहा है। श्लो० ३७।

यहां भी उपरोक्त भाव ही व्यक्त किया गया है।

इन पर विचार

सम्यग्दर्शन तीन प्रकार का है, (१) औपशमिक (२) क्षयोपशमिक, (३) क्षायिक। इन में से प्रथम दो को तो सराग माना गया है और क्षायिक को वीतराग, इस का अभिप्राय यह है कि प्रथम दोनों सम्यग्दर्शनों में शुभोपयोगरूप प्रवृत्ति की प्रधानता रहती है तथा क्षायिक में उपेक्षा अर्थात् वैराग्य की या आत्मज्ञान की प्रधानता हो जाती है। इसी भाव को व्यक्त करने के लिये श्रीमदाचार्य अमितगति ने वीतराग का अर्थ उपेक्षा किया है। जैसा कि उन के उपरोक्त श्लोक में स्पष्ट 'उपेक्षा लक्षणं परम्' लिखा है। अभिप्राय यह है कि क्षायिक सम्यक्त्व हो जाने

पर भेदविज्ञान और निवृत्तिमार्ग की ओर विशेष रुचि हो जाती है। अतः यह वीतरागता का कारण माना जाता है, कार्य का कारण में उपचार कर के उसे भी वीतराग सम्यग्दर्शन कह दिया गया है। पं० मक्खनलाल जी न्यायालंकार ने राजवार्तिक की टीका मे इस को सुदर शब्दों में स्पष्ट किया है। आप लिखते हैं कि—

"सरागसम्यक्त्व के हो जाने पर वीतराग सम्यक्त्व होता है। इस लिये सरागसम्यक्त्व कारण और वीतराग कार्य है। तथा वीतराग स्वयं कारण भी है और कार्य भी। सरागताका कारण सम्यग्दर्शन सरागसम्यग्दर्शन कहा जाता है और वीतरागता का कारण वीतराग सम्यग्दर्शन है।

—राजवार्तिक भाषा, पृ० ६२–६३।"

यही बात परमात्मप्रकाश, पंचास्तिकाय, द्रव्यसंग्रह, समयसार आदि की टीकाओं में आचार्यों ने कही है जिनका प्रमाण दिया जा चुका है। वहा स्पष्ट लिखा है कि, तीर्थंकर आदि परम देवों के भी गृहस्थ अवस्था मे इनके सराग सम्यक्त्व ही है, और जो सराग सम्यक्त्व है वह व्यवहार ही है। ऐसा जानो। परमात्मप्रकाश गा० १४३ की टीका पृ० १५८ तथा वहीं लिखा है कि "इनके (तीर्थंकर भरत, सगर राम आदि के) निश्चय सम्यक्त्व भी कहा जा सकता है। क्योंकि वीतराग चारित्र से तन्मयी निश्चयसम्यक्त्व का यह परंपरा से साधक है।" बस इसी अभिप्राय से राजवार्तिक आदि ग्रंथों मे क्षायिक सम्यक्त्व को वीतराग कहा गया है। यदि ऐसा न मानाजायेगा तो शास्त्रों में परस्पर विरोध आयेगा, तथा जिन में परस्पर विरोध होगा वे शास्त्र कहलाने के अधिकारी नहीं रहेंगे। तथा च स्वयं पूज्यवर श्री अकलंकदेवने निश्चय सम्यग्दर्शन का लक्षण 'स्वरूपसंवोधन' श्लो ११ में, आत्मा में लीन होकर आत्मदर्शन करना कहा है। यदि हम हठवश उपरोक्त कथन को न मानें तो भी यहां सात प्रकृतियोंके अत्यन्त क्षय से जो आत्मशुद्धि होती है उसी को वीतराग (निश्चय) सम्यग्दर्शन माना गया है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि उससे आत्मा की जितनी शुद्धि

हुई है उतना ही निश्चय सम्यग्दर्शन प्रकट हुआ है । जैसे जैसे आत्मा शुद्ध होता जायेगा सम्यग्दर्शन भी वैसे २ ही बढ़ता जायेगा। इससे हमारे पक्ष की ही पुष्टि होती है ।

गुण और द्रव्य

सम्यग्दर्शन का विचार करते हुये गुणों का भी अवश्य विचार कर लेना चाहिये । क्योंकि साधारण जैन जनता ही नहीं, अपितु बड़े २ विद्वान् भी ऐसा मानते हुये प्रतीत होते हैं कि सब गुण इसी प्रकार पृथक पृथक हैं जिस प्रकार द्रव्य हैं । यही कारण है कि वे लोग सम्यक् गुण में किसी अन्य कर्म का प्रभाव होना स्वीकार नहीं करते । जब हम दर्शन की दृष्टि में गुणो पर नजर डालते हैं तो सम्पूर्ण गुण एक गुणात्मक सिद्ध होते हैं । अर्थात जैनदर्शन गुणों की पृथक् २ सत्ता स्वीकार नहीं करता, अपितु उन का पृथकत्व केवल कथनमात्र से काल्पनिक ही बतलाता है । जैसा कि निम्नलिखित प्रमाणों से सिद्ध होता है ।

श्री शुभचन्द्राचार्य ने 'ज्ञानार्णव' मे एक प्राचीन गाथा लिख कर इस प्रकार स्पष्ट किया है—

एकोभावः सर्वभावस्वभावः सर्वे भावा एकभावस्वभावाः ।

एकोभावस्तत्वतो येनबुद्धः सर्वेभावास्तत्वतस्तेनबुद्धाः ॥

प्रकरण, ३४ श्लो० १३

अर्थात्—एक गुण सम्पूर्ण गुणात्मक है तथा सर्वगुण एक गुणात्मक है । इस लिये जिस ने तात्विकरूप से एक गुण को जान लिया उस ने सम्पूर्ण गुणों को जान लिया । इस से स्पष्ट सिद्ध है कि एक गुण के विकृत होने से सब गुण विकृत हैं, तथा एक गुण के शुद्ध होने से सब शुद्ध होते हैं तथा श्रीमान् पं० टोडरमल जी "मोक्षमार्ग प्रकाशक" मे लिखते हैं कि "बहुरि, अभेद, आत्मा, विषय, ज्ञानदर्शनादिभेद किये सो तिन को भेदरूप ही न मान लेने । भेद तो समझाने के लिये हैं ।

निश्चय करि आत्मा अभेद ही है। तिस ही को जीव वस्तु मानना। संज्ञा-संख्या आदि करि भेद कहे सो कहनेमात्र ही हैं। परमार्थ तैं जुदे जुदे हैं नाही। ऐसा ही श्रद्धान करना।" पृ० ३७४

जब ज्ञान-दर्शन चारित्र आदि भेद केवल कल्पनामात्र हैं वास्तव में इन का कुछ भी भेद नही है तो पुन. एक अमुक कर्म अमुक गुण को ही घातता है, यह किस प्रकार सिद्ध होता है। फिर तो यही कथन ठीक है कि जब आत्मा मलिन है तो सम्पूर्ण कल्पित गुण भी मलिन है। जब आत्मा शुद्ध होगा तब ही सम्पूर्ण गुण शुद्ध होंगे। पुन. सम्यक्त्व को तो पूर्ण निर्मल मान लेना और अन्य गुणों को विकृत मानना परस्पर विरुद्ध कथन है। तथा श्रीमान् प० गोपालदास जी ने जैनसिद्धान्त-प्रवेशिका में गुण का स्वरूप इस प्रकार लिखा है। "जो द्रव्य के पूरे हिस्से मे और उस की सब हालतो मे रहे, उस को गुण कहते हैं। जब एक गुण द्रव्य के सम्पूर्ण प्रदेशों में रहता है तो एक गुण के पूर्ण निर्मल होने पर सम्पूर्ण द्रव्य निर्मल कैसे नही हुआ। बस सम्यक्त्व के निर्मल होते ही सम्पूर्ण आत्मा निर्मल होना चाहिये।

ज्ञान और सम्यक्त्व

षट्प्राभृत की टीका मे आचार्य श्रुतसागर जी ने सुन्दर शब्दों में लिखा है कि "यावन्मात्रं ज्ञानम्, तावन्मात्र सम्यग्दर्शनं सम्यक्चारित्रं च। तेषामेकीभाव निश्चयात।" अर्थात् जितनी मात्रा में ज्ञान है उतनी ही मात्रा में सम्यग्दर्शन और चारित्र है। क्योंकि तीनो का तादात्म्य सम्बन्ध है। तथा द्रव्यसंग्रह मे भी स्पष्ट लिखा है कि—

"ज्ञान मे ही भेदनय की विवक्षा से जो वीतराग सर्वज्ञ के कहे हुये शुद्धात्मादि तत्त्व हैं, उन मे यही तत्त्व है, ऐसा ही तत्त्व है। इस प्रकार का जो निश्चय है वह सम्यग्दर्शन है। तथा अभेदनय से तो जोही

सम्यग्ज्ञान है वही सम्यग्दर्शन है। भेदनय से आवरण भेद है। अभेद नय से तो कर्मत्व के प्रति जो दो आवरण हैं उन दोनों को एक ही जानना चाहिये। पृ० १७५

तथा तत्वार्थसार की टीका करते हुये पं० बंशीधर जी लिखते हैं—

"ज्ञान की सत्ता रहने के सिवा चारित्र का दूसरा अर्थ नहीं है। और भी जो वीर्य आदिक गुण कहे जाते हैं, वे सब ज्ञान के ही रूपान्तर हैं।" पृ० ४

तथा च "सम्यग्दर्शशन, ज्ञान, चारित्र ये तीनों आत्मा के अविनाभावी गुण हैं। पृ० २

सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र तीनों शुद्धात्मा के ही रूप या नाम हैं दूसरी कोई चीज नहीं है। पृ० ३

ज्ञान की शुद्धता करने को मोक्षमार्ग कह सकते हैं, वह शुद्धता अखण्ड एक प्रकार है। ज्ञान की पूर्णता व वास्तविकता प्रकट करने के लिये सिद्धान्तवेत्ता आचार्यों ने श्रद्धान को भी एक तीसरा मोक्ष कारण बताया है। पृ० ४

आत्मज्ञान और सम्यक्त्व मे कोई अन्तर नहीं है। इसी लिये आत्मज्ञान को सम्यक्त्व कहते हैं। पृ० ३०२"

इस प्रकार शास्त्रों में ज्ञान और सम्यग्दर्शन की एकता का कथन है। श्री कुंदकुंदाचार्य लिखते हैं—

एते त्रयोऽपि भावा भवन्ति जीवस्य अक्षया अमेयाः।
त्रयाणामपिशोधनार्थं जिनभणितं द्विविधं चारित्रम्॥

षट् प्रा० चा० ३

अर्थात् जीव के ये तीन भाव (सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र) अनन्तानन्त हैं। इन तीनों गुणा की शुद्धि के लिये भगवान जिनेन्द्रदेव ने दो प्रकार का व्यवहार-चारित्र कहा है। अतः सिद्ध है कि चारित्र में जितनी कमी है सम्यग्दर्शन व ज्ञान आदि में उतनी ही अशुद्धता है।

जघन्यक्षायिक सम्यक्त्व

त्रिलोकसार गाथा ७१ मे श्रीमदाचार्य नेमिचन्द्र ने लिखा है कि—

अवरा क्षायिकलब्धिवर्गशलाका स्तत· स्वकार्धच्छिदिः ॥

इस की टीका करते हुये श्री नेमिचन्द्राचार्य के प्रधान शिष्य श्री· माधवचन्द्राचार्य त्रिविद्यदेव ने लिखा है कि—

तिर्यगत्यसंयतसम्यग्दृष्टौ जघन्यक्षायिक सम्यक्त्व रूपलब्धेरवि· भाग प्रतिच्छेदा. ।

अर्थात्—तिर्यंच गति मे असयत सम्यग्दृष्टी के जघन्यक्षायिक सम्यक्त्व रूप लब्धि के अविभाग प्रतिच्छेद ।

यहां मूल में अवराक्षायिक लब्धिपाठ है जिस का अर्थ जघन्य· क्षायिक लब्धि है । उसी की व्याख्या करते हुये श्री आचार्य महाराज ने यहा 'अवरा' का उपरोक्त अर्थ किया है । यहा स्पष्टरूप से क्षायिक सम्य· क्त्व के जघन्य आदि भेद कर के तिर्यंच गति वाले जीव के सब से जघन्य क्षायिक सम्यक्त्व बताया है । अत यह सिद्ध है कि क्षायिक सम्यक्त्व का भी क्रमिक विकास होता है, और वह १४ वें गुणस्थान के अन्त मे पूर्ण होता है । इसी बात की पुष्टि श्रीमदाचार्यप्रवर विद्यानन्द स्वामी ने की है, तथा भगवती आराधना की टीका में श्री अपराजित आचार्य ने भी इस का समर्थन किया है* ।

तथा समयसार जी मे लिखा है कि—

दर्शनज्ञानचारित्र यत्परिणमते जघन्य भावेन ।

इस गाथा की आचार्यप्रणीत टीकाओं का भावार्थ करते हुये पं० जयचन्द जी लिखते हैं कि—"जबतक क्षयोपशमज्ञान है तब तक दर्शन, ज्ञान, चारित्र जघन्यभावकर परिणमते हैं ।"

यहां महर्षि कुन्दकुन्दाचार्य ने तथा सभी टीकाकारों ने सम्यग्दर्शन

---

* देखें, पृ० ३ व ५

को क्षयोपशमिक ज्ञान रहने तक जघन्य माना है। अतः यह सिद्ध है कि क्षायिक सम्यक्त्व भी गुणस्थानों के क्रमशः बढ़ता हुआ अन्त में पूर्ण होता है। इसी लिये षट्प्राभृत की टीका में आचार्य लिखते हैं कि—

यावन्मात्रं ज्ञानं तावन्मात्रं सम्यग्दर्शनं सम्यक्चारित्रं तेषामेकीभाव निश्चयात्। चारित्रप्राभृत गा ३

अर्थात—जितना मात्र सम्यग्ज्ञान है उतना ही सम्यग्दर्शन है, तथा उतना ही सम्यक्चारित्र है। यहां मात्र शब्द रख कर आचार्यों ने यह सिद्ध किया है कि जितने अविभागी प्रतिच्छेद ज्ञान के प्रकट होते हैं उतने ही सम्यग्दर्शन के। तथा जैसे जैसे ज्ञान बढ़ता जायेगा तदनुसार ही सम्यक्त्व भी वृद्धि करेगा। और उसी प्रकार चारित्र भी बढ़ता जायेगा।

परसमय

महर्षि कुन्दकुन्दाचार्य महाराज स्वसमय और परसमय का वर्णन करते हुये लिखते हैं कि—

जीवः चरित्रदर्शनज्ञानस्थित. त हि स्वसमय जानीहि।
पुद्गलकर्मप्रदेशस्थितं च त जानीहि परसमयम्॥ १-२॥

अर्थात—जब यह आत्मा दर्शन ज्ञान व चारित्र मे स्थित होता है उस समय इस को स्वसमय समझो। यथा पुद्गल प्रदेश व कर्म मे स्थित होता है तब इस को परसमय समझो। इस का सरल भावार्थ यह है कि मुक्तात्मा स्वसमय है, और ससारी जीव परसमय।

इन श्लोकों की टीका करते हुये श्री अमृतचन्द्राचार्य लिखते हैं कि—

अथ खलु यदा सकलस्वभावनियतवृत्तिरूपात्मतत्त्वैकत्वगतत्वेन वर्तते तदा दर्शनज्ञानचरित्र स्थितत्वात्स्वमेकत्वेन युगपज्जानन् गच्छंश्च स्वसमय इति। यदा त्वनाद्यविद्याकंदलीमूलकदायमान मोहानुवृत्तितया दृशि-ज्ञप्ति स्वभावनियत वृत्तिरूपादात्म तत्त्वात्प्रच्युत्यपरद्रव्य प्रत्य । मोहराग-

द्वेषादि भावैकगतत्वेन वर्तते तदा पुद्‌गलकर्म प्रदेशस्थितत्वात्परमेकत्वेन युगपज्ज्ञानन्गच्छंश्च परसमय इति ।

अर्थ—जब यह जीव समस्त परभावों से मुक्त होकर दर्शन ज्ञान चारित्र में निश्चितरूप से स्वात्मा में लीन होकर स्थित होता है तब यह एक काल में देखना जानना रूप परिणमता है तब यह स्वसमय कहलाता है और जब यह अनादि अविद्यारूप मूल वाले कंद के समान मोह आदि के उदय से रागद्वेष रूप प्रवृत्ति करता है, और उन में एकता का अनुभव करता है तब स्वात्मा से विमुख हुआ परसमय कहलाता है ।

इसी श्लोक की टीका करते हुये श्री जैसेनाचार्य जी लिखते हैं कि—

तथाहि-विशुद्ध ज्ञानदर्शनस्वभावनिजपरमात्मनि यद् रुचिरूपं सम्यग्दर्शन तत्रैव रागादिरहितस्वसंवेदन ज्ञान तथैव निश्चलानुभूतिरूप वीतरागचारित्रम्, इत्युक्तलक्षणेन निश्चयरत्नत्रयेण परिणतजीवपदार्थं हे शिष्य स्वसमयं जानीहि ।

अर्थात—विशुद्ध ज्ञानदर्शन स्वभाव जो निज परमात्मा उस मे रमण करने रूप उत्कट रूचि लक्षणयुक्त निश्चय सम्यग्दर्शन तथा राग रहित स्वसंवेदनरूप निश्चयज्ञान और उसी मे निश्चल स्वानुभूतिरूप वीतराग चारित्र से युक्त निश्चय रत्नत्रयरूप स्वभाव मे स्थित आत्मा को हे शिष्य ! तू स्वसमय जान ! इस से भिन्न को परसमय कहते हैं ।

इसी विषय को अधिक स्पष्ट करने के लिये श्री कुन्दकुदाचार्य महाराज ने रयणसार' मे वहिरात्मा और अन्तरात्मा को परसमय तथा परमात्मा को स्वसमय कहा है । यथा—

अन्तरात्मा भी परसमय है

वहिरन्तरात्मभेदः परसमयः भण्यते जिनेन्द्रैः ।
परमात्मास्वकःसमयः तद्भेद जानीहि गुणस्थाने ॥

रयणसारः ॥ गा० १४८

अर्थ—"भगवान जिनेन्द्रदेव ने बहिरात्मा तथा अन्तरात्मा के भेद से २ प्रकार के परसमय कहे हैं। उनको गुणस्थानों की परिपाटी से जानना चाहिये। तथा परमात्मा को स्वसमय कहा है।"

अभिप्राय यह है कि अन्तरात्मा के भी सूक्ष्म मिथ्यात्व रहता है। यही कारण है कि उनके भी बन्ध होता है। अन्तरात्मा के भी जघन्य, मध्यम, उत्तम आदि भेद हैं। जघन्य अन्तरात्मा चतुर्थ गुण तथा पचम गुणस्थानी हैं, ऊपर के गुणस्थान वाले मध्यम हैं, तथा उत्तम हैं। इनके भी असख्य भेद हैं।

प्रश्न—यहांपर तथा पंचास्तिकाय की टीका मे भी परसमय शब्द आया है। क्या आप उसका अर्थ मिथ्यात्वी करते हैं।

उत्तर—परसमय का अर्थ जैनशास्त्रों में मिथ्यात्व ही किया है। किसी भी आचार्य ने अथवा विद्वान ने इसका अन्य अर्थ नहीं किया। इस लिये इस विषय मे मतैक्य है। फिर भी हम कुछ प्रमाण उपस्थित करते हैं—

पंचास्तिकाय के उसी प्रकरण में जिसका ऊपर कथन किया गया है, लिखा है—

शुद्धात्माश्रित· स्वसमयो मिथ्यात्वरागादिविभावपरिणामाश्रितः परसमय इति। पृ० २२३।

यहाँ स्वयं श्री जैसेनाचार्य जी ने परसमय का अर्थ मिथ्यात्व किया है तथा प्रवचनसार में भी, सभी टीकाकारो ने श्री अमृतचन्द्र सूरि तथा पं० हेमचन्द्र जी व मनोहरलाल जी आदि सभी ने परसमय का अर्थ मिथ्यात्व किया है। देखो अधिकार० २ गाथा १–२ ॥

वास्तव में रागमात्र मिथ्यात्व उत्पन्न करता है। जो विद्वान सम्य- ग्दर्शन को घातक दर्शनमोहनीय प्रकृति को ही मानते हैं वे भारी भ्रम मे हैं। क्योंकि सम्यग्दर्शन की विघातक चारित्रमोहनीय आदि सभी प्रकृतियां हैं। हां सामान्य और विशेष का अन्तर अवश्य है।

सूक्ष्ममिथ्यात्व

कश्चित्पुरुषो निर्विकारशुद्धात्मभावलक्षणे परमोपेक्षा स संयमे स्थातु-मीहते तत्राशक्तः सन् कामक्रोधाद्यशुद्ध परिणामवंचनार्थं संसारस्थिति-छेदनार्थं वा यदा पंचपरमेष्ठिषु गुणस्तवनादिभक्तिं करोति तदा सूक्ष्म परसमयपरिणत. सन् सरागसम्यग्दृष्टिर्भवतीति, यदि पुनः शुद्धात्मभावना समर्थोऽपि तां त्यक्त्वा शुभोपयोगादेव मोक्षो भवतीत्येकान्ते मन्यते तदा स्थूलपरसमयपरिणामेनाज्ञानी मिथ्यादृष्टिर्भवति ततः स्थितं अज्ञानेन जीवो नश्यति इति। तथाचोक्तम्—

"केचिदज्ञानतो नष्टा: केचिन्नष्टा. प्रमादत ।
केचिज्ज्ञानावलेपेन केचिन्नष्टैश्च नाशिता: ॥ १ ॥

अर्थ —कोई पुरुष निर्विकार शुद्धात्मभावनारूप लक्षणवाले, परम संयम में ठहरने की इच्छा करते हुए भी असमर्थता के कारण न ठहर कर काम क्रोधादि अशुद्ध परिणामों को त्यागने के लिये पंचपरमेष्ठि आदि की भक्ति करता है तब वह सूक्ष्म परसमय सूक्ष्म मिथ्यात्वी होता है फिर वह सूक्ष्म परसमय मे रत होकर सराग अर्थात् व्यवहार सम्यग्दृष्टि होता है। यदि वह शुद्धात्म भावना में ठहरने की शक्ति रखते हुए भी उसको छोड़कर शुभोपयोग से ही मोक्ष होता है ऐसा एकान्तदृष्टि से मानता है तो वह स्थूल मिथ्यात्वी अज्ञानी कहलाता है। इसी लिये कहा है कि कोई तो अज्ञान से नष्ट होते हैं और कई प्रमाद से बहुत से ज्ञान की दुर्बलता से नष्ट होते हैं। पंचास्तिकाय गा० १६५ श्रीजैसेनाचार्यकृत टीका। पृ० २३८–२३६ ।

अर्हत्सिद्धचैत्यप्रवचनगुणज्ञानभक्तिसम्पन्न. ।
बध्नाति पुण्यं बहुशो न तु स कर्मक्षयं करोति ॥१६६॥

अर्थ—"जिस जीव के चित्त में अरहन्तादिक की भक्ति होय उस पुरुष के कथञ्चित मोक्षमार्ग भी है परन्तु भक्ति के रागांशकर शुभोपयोग

भावों को छोड़ता नहीं, बन्धपद्धति का सर्वथा अभाव नहीं है, इस कारण उस भक्तिके रागांश करके ही बहुत प्रकार पुण्य कर्मों को बाँधता है किंतु सकल कर्मक्षय को नहीं करता है, इस कारण मोक्षमार्गियों को चाहिये कि भक्तिराग की कणिका भी छोड़ें, क्योंकि यह परसमय का कारण है परम्पराय मोक्ष का कारण है, साक्षात् मोक्षमार्ग को घातै है। इस कारण इसका निषेध है।" यहां भक्ति की कणिका को भी मिथ्यात्व का कारण कहा है।

पंचाध्यायी और मिथ्यात्व

पंचाध्यायीकार ने मिथ्यात्व के दो भेद अन्य प्रकार से किये हैं।

यथा— बुद्धिपूर्वकमिथ्यात्वं लक्षणाल्लक्षित यथा।
जीवादीनामश्रद्धान श्रद्धान वा विपर्ययात् ॥ अ० २-१०४१

अर्थात—बुद्धिपूर्वक मिथ्यात्व का जो लक्षण किया है वह इस प्रकार है—जीवादि पदार्थों का श्रद्धान नहीं करना, अथवा उनका उल्टा श्रद्धान करना। अभिप्राय यह है कि मिथ्यात्व दो प्रकार का है एक स्थूल, दूसरा सूक्ष्म। स्थूल मिथ्यात्व का कार्य है कि वह तत्वार्थ में श्रद्धान नहीं होने देता, अथवा श्रद्धान को विपरीत कर देता है। सात प्रकृतियों के क्षय आदि से स्थूल मिथ्यात्व का नाश हो जाता है। अत विपरीताभिनिवेश रहित श्रद्धान होजाता है। परन्तु फिर भी सूक्ष्ममिथ्यात्व शेष रहता है। यह सूक्ष्म मिथ्यात्व रागरूप है, यह बारहवें गुणस्थानमें समाप्त होता है। वहीं निश्चयसम्यग्दर्शन का आविर्भाव होता है। यही बात पंचास्तिकाय की टीका में श्री जयसेनाचार्य ने लिखी है। तथा समयसार में भी इसका स्पष्ट व विस्तारपूर्वक कथन आया है। उन प्रमाणों को हम प्रथम लिख आये हैं। धवला जी मे मिथ्यात्व का कथन निम्न प्रकार है —

"मिथ्या, वितथ, व्यलीक और असत्य। ये एकार्थकवाची नाम हैं। दृष्टि शब्द का अर्थ दर्शन या श्रद्धान है। इस से यह तात्पर्य हुआ कि

जिन जीवों के विपरीत, एकान्त, विनय, संशय, अज्ञानरूप मिथ्यात्व कर्म के उदय से उत्पन्न हुई मिथ्यारूप दृष्टि होती है उन्हें मिथ्यादृष्टि जीव कहते हैं। जितने भी वचनमार्ग हैं, उतने ही नयवाद अर्थात् नय के भेद होते हैं और जितने नयवाद हैं उतने ही परसमय (मिथ्यात्व) होते हैं। इस वचन के अनुसार मिथ्यात्व के पांच ही भेद हैं, यह कोई नियम नहीं है, किन्तु मिथ्यात्व पाच प्रकार का है यह कथन उपलक्षणमात्र है। अथवा मिथ्या शब्द का अर्थ वितथ और दृष्टि शब्द का अर्थ रुचि, श्रद्धा या प्रत्यय है। इस लिये जिन जीवो की रुचि असत्य में होती है उन्हें मिथ्यादृष्टि कहते है। उसके तीन भेद हैं—संशयित, अभिगृहीत और अनभिगृहीत " खं० १ भा० १ पुस्तक १ पृ० १६२।

ये लोग ईर्षा से मोक्ष मानते है। इसलिये ये मिथ्यात्वी हैं।

निश्चयसम्यक्त्व के अंग

जिस प्रकार व्यवहारसम्यग्दर्शन के आठ अंग हैं उसी प्रकार निश्चय सम्यग्दर्शन के आठ अंग हैं। यद्यपि उनके नाम वे ही हैं परन्तु उनके स्वरूपमें रात और दिन का अन्तर है। बृहद्द्रव्यसंग्रह की टीका में आचार्यप्रवर श्रीब्रह्मदेवसूरि ने दोनो का कथन साथ साथ किया है तथा समयसार में आचार्य पुंगव श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने और उसके टीकाकार श्री अमृतचन्द्र सूरि ने एवं श्रीमदाचार्य श्रीसैमन स्वामीने उनका विस्तार पूर्वक कथन किया है। यथा —

निश्शंकित अंग

सम्यग्दृष्टयो जीवा निःशंका भवन्ति निर्भयास्तेन।
सप्तभयविप्रमुक्ता यस्मात्तस्मात्तु निश्शंकाः ॥२२८॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टी जीव सात भयों से मुक्त होने से निःशंक व निर्भय

होते हैं। इस पर टीका करते हुये अमृतचन्द्राचार्य लिखते हैं कि—

एष सकलव्यक्तो विविक्तात्मन: चिल्लोक स्वयमेव केवलमय यल्लोक-यत्येकक: लोकोऽय न तवापरस्तव परस्तस्यास्ति तद्भी: कुतो निश्शंक सतत स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति।

अर्थात्—जब यह ज्ञानी अपनी आत्मा का ही अद्वैत भाव से अवलोकन करता है तब इसको यह अनुभव होता है कि शुद्ध सच्चिदानन्द स्वरूप ही तेरा लोक है, अन्य सब लोक तेरे नहीं हैं। इस प्रकार के अनुभव समय में ज्ञानी के इह लोक व परलोक का भय कैसे हो सकता है। अर्थात् नहीं हो सकता। इसी का खुलासा करते हुये श्रीजैसेनाचार्य लिखते हैं कि—

"तस्मादेव कारणात्, घोरपरिषहदोपसर्गे प्राप्तेऽपि निश्शंका: शुद्धात्मस्वरूपे निष्कंपा: सन्त शुद्धात्मभावनोत्थवीतरागसुखानन्दतृप्ताश्च परमात्मस्वरूपान्न प्रच्यवन्ते पाडवादिवत्।

अर्थ—इस लिये घोर परिषह उपसर्ग प्राप्त होने पर भी योगीजन (निश्चयसम्यग्दृष्टा) शुद्धात्मस्वरूप में निःशंक रमण करते हैं। तथा शुद्धात्मानुभव से प्राप्त जो परमशान्त रस है, उस से कभी भी चलायमान नहीं होते।

उपरोक्त कथन से यह सिद्ध है कि यह समाधिस्थ योगीश्वर की निर्भयता का कथन है, वहां जीव निश्चय सम्यग्दर्शन को प्राप्त करता है। वास्तव में योग द्वारा समाधी में लीन होकर आत्मदर्शन का नाम सम्यग्दर्शन है, वह सप्तम गुणस्थान में आरंभ होता है। इसलिये सातवें गुणस्थान में ही निश्चयसम्यक्त्व की अभिव्यक्ति बताई है। चतुर्थ गुणस्थान में तो आत्मदर्शन की अभिलाषा मात्र उत्पन्न होती है, वह अभिलाषा आत्मदर्शन का कारण होने से व्यवहार सम्यग्दर्शन कहलाता है। सातवें गुणस्थान में भी भय का उदय है। अत: वहा भी यह पूर्णनिर्भीक नहीं है। पूर्णनिर्भीक कहाँ होता है; इस का कथन स्वय श्रीकुन्दकुन्दाचार्य निम्न प्रकार करते हैं—

स्तेयादीनपराधान् करोति यः स शंकितो भ्रमति ॥ ३०१ ॥
यो न करोत्यपराधान् स निश्शकस्तु जनपदे भ्रमति ॥ ३०२ ॥
संसिद्धिराधसिद्धं साधितमाराधितं चैकार्थम् ।
अपगतराधो यः खलु चेतयिता स भवत्यपराधः ॥ ३०४ ॥
य पुनर्निरपराधश्चेतयिता निःशंकितस्तु स भवति ।
आराधनया नित्यं वर्तते, अहमिति जानन् ॥ ३०५ ॥

अर्थ—जो जीव चोरी आदि अपराध करता है वह सशंकित भ्रमण करता है, तथा जो अपराध नहीं करता वह निर्भय होकर अलमस्त घूमता है । इस लिये यह सिद्ध हुआ कि अपराध ही शंका का कारण है। जब यह जीव अपराध से बिलकुल पृथक हो जाये तब ही पूर्ण निर्भय होता है । अतः अपराध का अर्थ करते हैं ।

संसिद्धि राध सिद्ध, तथा साधित और आराधित आदि शब्द समानार्थक हैं । अतः जो आत्मा 'राध' से अर्थात सिद्धि से रहित हो वह आत्मा सापराध है । यह सापराध आत्मा सदा सशंकित रहता है । निर्भय होकर मस्ती में नहीं विचर सकता । तथा जो साधन अर्थात् सिद्धि सहित है । वह निरपराध है, वह निर्भीक है, निःशंक है । इसकी टीका करते हुये श्री आचार्य महाराज कहते हैं कि—

कालत्रयवर्तीसमस्तमिथ्यात्वविषयकषायादिविभाव परिणामरहितत्वेन निर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा निजशुद्धात्माराधनं सेवनं राध इत्युच्यते स संसिद्धिरिति साधितमित्याराधितं च तस्यैव राधशब्दस्य पर्यायनामानि । अपगतो विनष्टो राधः शुद्धात्माराधना यस्य रागादिविभावपरिणामस्य स भवत्यपराधः । अपराधेन सह वर्तते यः स सापराधः । चेतयितात्मा तद्विपरीत त्रिगुप्तिसमाधिस्थो निरपराध इति ।

अर्थात्–त्रिकालवर्ती समस्तमिथ्यात्व विषय, कषाय आदि विभावपरिणामों से रहित होकर निर्विकल्प समाधी में लीन होकर निज शुद्धात्मा

का आराधन सेवन करने को 'राध' कहते हैं । संसिद्धि, सिद्धि, साधित, आराधित, आदि इस राध शब्द के पर्यायवाची नाम हैं । उस समाधि से रहित को सापराधक कहते हैं, यह सापराध आत्मा अथवान है निर्भय नहीं हो सकता । तथा जो निज शुद्धात्मानुभवनमें लीन है वही निरपराध है, वही निर्भय है । अतः निश्चयसम्यग्दर्शन का निःशंकित अंग वैभाविक परिणामों से रहित होकर निज शुद्धात्मा मे लीन होना है । जो विद्वान् चतुर्थ गुणस्थान के सम्यग्दर्शन को ही निश्चय सम्यग्दर्शन मानते हैं उनका कर्तव्य है कि वे इन शास्त्रों का गहन अध्ययन करें ! इन आध्यात्मिक ग्रन्थों के मनन से ही वीतराग के धर्म का मर्म समझा जा सकता है । वह भी साम्प्रदायिक संस्कारों से पृथक होकर स्वतन्त्र बुद्धि से विचार करने पर ही ।

इन अंगों की व्याख्या करते हुये श्रीमान् पं० जयचन्द जी ने लिखा है कि "यहां पर निश्चय नय प्रधानकर कथन है । इस लिये आत्मा के ही परिणाम निःशंकत्व आदिक से कहे गये हैं । तथा ये निःशंकित आदि आठ गुण व्यवहार नयकर व्यवहार मोक्षमार्ग में लगा लेना । जिन वचन मे सन्देह नहीं करना, भय आने पर व्यवहार दर्शन ज्ञान चारित्र से चिगना नहीं यह निःशंकित पना है । संसार देह भोग की वांछा कर तथा परमत की वांछा कर व्यवहार मोक्षमार्ग से नही चिगना वह निःकांक्षित पना है । अपवित्र दुर्गन्धादि वस्तु के निमित्त से व्यवहार मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति मे ग्लानि न करना यह निर्विचिकित्सा है । देव, शास्त्र गुरु, लोक की प्रवृत्ति अन्यमतादि तत्वादि के स्वरूप मे मूढता नहीं रखना यथार्थ ज्ञान प्रवर्तना वह अमूढदृष्टी है । धर्मात्माओं मे कर्म के उदय से दोष होजाये तो उसे गौण कर और व्यवहार मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति को बढावे वह उपगूहन अथवा उपबृंहण है । व्यवहार मोक्षमार्ग से चिगते हुये को स्थिर करना वह स्थितिकरण है । व्यवहार मोक्षमार्ग मे प्रवर्तने वाले से विशेष अनुराग (प्रीति) रखना यह वात्सल्य है । और व्यवहार मोक्षमार्ग का अनेक उपायों से उद्योत करना वह प्रभावना

है। ये व्यवहार नय को प्रधान करके कहे गये हैं।"

अभिप्राय यह है कि निश्चय सम्यग्दर्शन के अंग आत्मस्वरूप ही हैं। वहां आत्मसंबंधी ही अंग कहे गये हैं। तथा व्यवहार सम्यग्दर्शन के अंगो का सम्बन्ध अन्य व्यक्तियों से है। इस कथन से यह भी स्पष्ट होगया कि तत्त्वार्थसूत्र, रत्नकरण्डश्रावकाचार आदि सम्पूर्ण ग्रन्थों में व्यवहार सम्यग्दर्शन का ही कथन है, क्योंकि वहां व्यवहारिक अंगादि का कथन है। यही बात पुरुषार्थ सिद्धयुपाय की टीका में श्रीमान् पं० नाथूराम जी प्रेमी ने कही है —

"अष्टाग सम्यग्दर्शन, अष्टांगसम्यग्ज्ञान, मुनियों के महाव्रतरूप आचरण को व्यवहार रत्नत्रय कहते हैं। तथा अपने आत्मतत्त्व की रुचि, आत्मतत्त्वका परिज्ञान और आत्मतत्त्व मे ही निश्चल होने को निश्चय रत्नत्रय कहते हैं।" पृ० ११३

यह कथन श्रीमान् पं० टोडरमल जी की टीका के अनुसार है। अतः यह सिद्ध होगया कि गृहस्थ तथा छट्ठे गुणस्थान के मुनि का सम्यग्दर्शन व्यवहार सम्यग्दर्शन है। यही श्री जैसेनाचार्य जी लिखते हैं कि—

सम्वरपूर्विकानिर्जरा या व्याख्याता सा सम्यग्दृष्टेर्जीवस्य शुद्धात्मसम्यक् श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपे मुख्यवृत्त्या निश्चयरत्नत्रये सति वीतरागधर्मध्यानशुक्लध्यानरूपे शुभाशुभबहिर्द्रव्यनिरालम्बने निर्विकल्पसमाधौ सति भवति स च समाधिरतीव दुर्लभः।

अर्थात्—मुख्यवृत्ति से संवरपूर्वक निर्जरानिर्विकल्पसमाधिरत योगी के ही होती है। और वह समाधी अत्यन्त दुर्लभ है।

इस सम्बरपूर्वक निर्जरा का अविनाभावी निश्चय सम्यग्दर्शन है।

पंचाध्यायी

पंचाध्यायीकार का कथन है कि—

श्रद्धानादिगुणाश्चैते बाह्योल्लेखच्छलादिह।

अर्थात्सद्दर्शनस्यैकं लक्षणं ज्ञानचेतना ॥ ८२८ ॥

ननु रूढिरिहाप्यस्ति योगाद्वा लोकतोऽथवा ।
तत्सम्यक्त्वं द्विधाऽप्यर्थं निश्चयाद् व्यवहारतः ॥२६॥

व्यवहारिकसम्यक्त्व सरागं सविकल्पकम् ।
निश्चय वीतरागं तु सम्यक्त्व निर्विकल्पकम् ॥

इत्यस्तिवामनोन्मेषः केषांचिन्मोहशालिनाम् ।
तन्मते वीतरागस्य सद्दृष्टेर्ज्ञानचेतना ॥ ३१ ॥

व्यावहारिक सद्दृष्टेः सविकल्पस्य रागिण ।
प्रतीतिमात्रमेवास्ति कुत स्याद् ज्ञानचेतना ॥ ३२ ॥

इति प्रज्ञापराधेन ये वदन्ति दुराशयाः ।
तेषां यावच्छ्रुताभ्यास. कायक्लेशाय केवलम् ॥ ३४ ॥

अप्रमत्त च सम्यक्त्वं ज्ञान वा सविकल्पकम् । ९१८ ॥

ततस्तूर्ध्वं तु सम्यक्त्वं ज्ञानं वा निर्विकल्पकम् ।
शुक्लध्यानं तदेवास्ति तत्रास्ति ज्ञानचेतना ॥ अ० २

अस्तीति वामनोन्मेष. केषांचित्स न सन्निह ॥ ५२० ॥

भावार्थ—श्रद्धान आदि जितने भी सम्यक्त्व के लक्षण किये हैं वे सब बाह्य लक्षण हैं, वास्तव मे तो सम्यग्दर्शन का लक्षण एकमात्र ज्ञानचेतना है । और यह भी रूढी है कि सम्यग्दर्शन दो प्रकार का है—एक व्यवहार दूसरा निश्चय । व्यवहारिक सम्यक्त्व सराग है सविकल्प है, और निश्चय वीतराग व निर्विकल्पक है । सातवें गुणस्थान तक व्यवहार सम्यक्त्व व सविकल्पक, सरागसम्यग्दर्शन होता है, उस से ऊपर निश्चय, वीतराग सम्यक्त्व है । वहीं शुक्ल ध्यान है और वही ज्ञानचेतना होती है । सराग सम्यग्दृष्टि के तो केवल प्रतीति (श्रद्धा) मात्र है अतः वहाँ ज्ञानचेतना नहीं है । यह कथन मन्दबुद्धि व मोहग्रसित जीवों का है । उन लोगोंका शास्त्राभ्यास केवल कायक्लेश के लिये ही है । आदि

इस से निम्नलिखित बातें सिद्ध होती हैं—

(१) सम्यग्दर्शन दो प्रकार का है, (व्यवहर) (२) निश्चय।

(२) सरागसम्यक्त्व को व्यवहार कहते हैं और वीतराग को निश्चय।

(३) सातवें गुणस्थान तक व्यवहार सम्यग्दर्शन रहता है, उस के पश्चात् निश्चय।

(४) आठवें गुणस्थान से ही शुक्लध्यान आरंभ होता है, वहीं से निश्चयसम्यक्त्व तथा ज्ञानचेतना आरंभ होती है।

इन में से तीन बातें अर्थात् सम्यग्दर्शन, व्यवहार व निश्चय से दो प्रकार का है। सरागसम्यग्दर्शन का नाम ही व्यवहारसम्यक्त्व है और वीतराग का निश्चय, तथा सातवें गुणस्थान तक व्यवहार सम्यग्दर्शन ही रहता है।

हम सिद्ध कर चुके हैं कि सम्यग्दर्शन दो प्रकार का है १ व्यवहार, २ निश्चय। और सातवें गुणस्थान तक व्यवहार सम्यग्दर्शन नहीं रहता। इससे सिद्ध है कि सम्पूर्ण आचार्यों की मान्यता यही है जिस का विरोध पचाध्यायीकार ने किया है।

ज्ञानचेतना

अब ज्ञानचेतना का प्रश्न शेष रह जाता है। जब आचार्य प्रणीत ग्रन्थो का स्वाध्याय करते हैं तो यह हस्तामलक की तरह विदित होजाता है कि समस्त जैनाचार्यों ने ज्ञानचेतना आठवें गुणस्थान से आरंभ मानी है, तथा सिद्धो में उसकी पूर्णता मानी है। ज्ञानचेतना का विचार करने से पूर्व ज्ञानचेतना का स्वरूप जान लेना आवश्यक है। अत: हम सबसे प्रथम पंचाध्यायी से ही इसका स्वरूप व लक्षण लिखते हैं—

न स्यादात्मोपलब्धिर्वा सम्यग्दर्शनलक्षणम्।
शुद्धाचेदस्ति सम्यक्त्वं न चेच्छुद्धा न सा सुदृक्॥ २-२१५

अर्थात्—आत्मोपलब्धि का नाम सम्यग्दर्शन नहीं है अपि तु शुद्धात्मोपलब्धि (शुद्धात्मानुभव) का नाम सम्यग्दर्शन व ज्ञानचेतना है। अनुभव से क्या अभिप्राय है इसके लिये लिखा है—

स यथा सति सविकल्पे भवति स निश्चयनयो निषेधात्मा।
न विकल्पो न निषेधो भवति चिदात्मानुभूतिमात्रं च ॥ २।६४८

सविकल्प ज्ञान का निश्चय नय निषेध करता है, परन्तु जहां न तो विकल्प ही है और न निषेध ही है वहां पर स्वात्मानुभूतिमात्र है। आगे श्लो० ६५१–५२ में लिखा है कि—जो पुरुष ध्यानारूढ है और उस समय उसके ऐसा विकल्प है कि मैं ध्याता हूं, मैं ध्यान कर रहा हूँ, जब तक उसके ये भाव हैं, उस समय तक वह व्यवहार नय में लीन है, यदि पुन. वही आत्मा निर्विकल्प हो जायं। अर्थात—ध्याता, ध्यान और ध्येय आदि का विकल्प उसके जाता रहे और स्वात्मा मे तन्मय हो जाये तो उस समय वह आत्मानुभव करने लग जाता है। यही अनुभव, आत्मोपलब्धि व आत्मानुभूति कहलाती है। आगे आप लिखते हैं—

तस्माद् व्यवहार इव प्रकृतो नात्मानुभूतिहेतु· स्यात।
अयमहमस्य स्वामी सदवश्य भाविनो विकल्पत्वात् ॥

व्यवहार नय के समान निश्चय नय भी आत्मानुभूति का कारण नहीं है क्योंकि वहां भी मैं ध्याता आदि हूँ इस प्रकार का विकल्प रहता ही है। अभिप्राय यह है कि आपके मत में निर्विकल्प समाधी अवस्था में ही आत्मानुभूति हो सकती है, परन्तु वहां भी शुद्धात्मानुभूति नही है क्योकि अभी तक आत्मा अशुद्ध ही है। जब आत्मा अशुद्ध है तो शुद्धात्मा का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता तथा जब तक शुद्धात्मोपलब्धि नहीं होती उस समय तक न ज्ञानचेतना होती है और न सम्यग्दर्शन ही। यहां तक तो आपका कथन युक्तियुक्त और सर्वशास्त्र सम्मत है। अत· इस विषय में हमको अन्य शास्त्रो के प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं है। अब विचारणीय यह है कि क्या यह अवस्था

चतुर्थ गुणस्थानी के हो सकती है। उपरोक्त निर्विकल्प समाधि अवस्था शुक्लध्यानी के ही संभव है। क्योंकि जब तक बुद्धिपूर्वक राग का अंश है उस समय तक निर्विकल्पता होना नितान्त असंभव है। इस लिये यद्यपि पंचाध्यायी का खंडन उसी के कथन से होजाता है, फिर भी हम कुछ अन्य महानाचार्यों के प्रमाण उपस्थित करते हैं।

श्रीमद् देवसेनाचार्य 'तत्वसार' में लिखते हैं—

> जो खलु शुद्धो भावो सो अप्पणितं च दसणणाणम्।
> चरणं पि त च भणियं सा सुद्धा चेयणा अहवा॥ ८॥

अर्थात्—जो आत्मा का शुद्ध वीतराग भाव है, वह भाव आत्मा में तन्मय रूप है, उसी निर्विकल्प आत्मतन्मयता को सम्यग्दर्शन व ज्ञान और चारित्र की एकता भी कहते हैं, उसी को ज्ञानचेतना भी कहते हैं। तथा श्री पूज्यपाद् स्वामी इष्टोपदेश में कहते हैं—

> आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य व्यवहारवहिस्थितेः।
> जायते परमानन्दः कश्चिद् योगेन योगिनः॥४७॥

अर्थात्—जो योगी व्यवहार से बाहर जाकर केवल अभेद एकरूप अपने आत्मा के स्वरूप में ठहर जाता है उस योगी को स्वात्म ध्यान के बल से अनुपम आनन्द प्राप्त होता है, यही आनन्द का अनुभव वीतराग मयी ध्यान की अग्नि है, जो कि कर्मरूपी ईन्धन को जला कर भस्मसात कर देती है।

यह आत्मानुभव किसको प्राप्त होता है, इसके लिये तत्वसार में लिखा है कि—

> जं अवियप्पं तच्चं तं सारं मोक्खकारणं तं च।
> त णाऊण विसुद्धं झ यह होउण णिग्गत्थो॥ ६॥

अर्थ—जो यह निर्विकल्प अवस्था है वही सार है, वही मोक्ष का कारण है, निर्ग्रन्थ मुनि होकर उस अवस्था को प्राप्त करना चाहिये।

यहाँ आचार्य महाराज ने स्पष्ट कर दिया कि यह अनुभव, मुनि

अवस्था में ही प्राप्त हो सकता है। वह भी निर्ग्रंथ मुनि को। पुलाक, वकुश आदि को नहीं। यह वीतराग अवस्था अष्टम गुणस्थान में ही प्राप्त होती है। यह स्मरण रखना चाहिये कि ज्ञानचेतना व्यवहाररूप से यहां प्रारंभ होती है और पूर्ण व निश्चय ज्ञानचेतना सिद्धो के ही होती है तथा अष्टम गुणस्थान से पूर्व ज्ञानचेतना का नितान्त अभाव है। जो विद्वान् चतुर्थ गुणस्थान में ही ज्ञानचेतना को अभाव मानते हैं। उन्होंने इस विषय का सूक्ष्म विचार नहीं किया है। परंपरा से चली आई रूढी को ही आधुनिक विद्वानों ने दुहरा दिया है। परन्तु यह निश्चय समझ लेना चाहिये कि यदि सवस्त्र के ज्ञानचेतना मानी जायेगी तो सवस्त्र मुक्ति का भी निषेध नहीं हो सकेगा। यही कारण है कि सम्पूर्ण दि० जैनाचार्यों ने वास्तविक ज्ञानचेतना को केवली के ही माना है। आश्चर्य तो यह है कि पं० राजमल्ल जी ने स्वयं अध्यात्मकमलमार्तण्ड की गाथा में लिखा है कि—

स्वात्मन्येवोपयुक्त परपरिणतिभिच्चिद् गुणग्रामदर्शी।
चिच्चित्पर्यायभेदाधिगमपरिणतत्वाद् विकल्पावलीढ. ॥

इसकी सस्कृत टिप्पणी में लिखा है कि—

ज्ञानभावेनस्वरूपवेदनमिति ज्ञानचेतना। ज्ञानादन्यत्रेदमहं करोमीति चेतनं कर्मचेतना ··········तत्र ज्ञानचेतना सिद्धानां भवति संसारिजीवानामन्ये द्वे भवतः।

यहां मूलश्लोक में तथा टिप्पणी में भी निर्विकल्पक समाधीरत के ही ज्ञानचेतना मानी है। ज्ञानचेतना सिद्धों के ही होती है, यह लिख कर सिद्ध कर दिया है कि वस्तु वृत्या तो ज्ञानचेतना सिद्धों के ही होती है। गौणवृत्ति से योगियों के भी हो सकती है क्योंकि वहां ज्ञानचेतना पराश्रित है। अर्थात् योगियों का अनुभव भी मन के आश्रय से है। इस लिये पराश्रित होने के कारण इस को व्यवहारिक ज्ञानचेतना कहते हैं। पंचा-

स्तिकाय में तथा प्रवचनसार में एवं समयसार आदि सम्पूर्ण ग्रन्थों में श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने तथा उन ग्रन्थों के टीकाकार आचार्यों ने शुद्धोपयोगी मुनि के भी कर्मचेतना ही मानी है और ज्ञानचेतना का निषेध कर दिया है।

प्रवचनसार खंड २ गा० ३३ की टीका मे श्री जैसेनाचार्य ने लिखा है कि "वह कर्मचेतना, शुभोपयोग, अशुभोपयोग और शुद्धोपयोग भेद से तीन प्रकार की है।" पंचास्तिकाय की गाथा में इन चेतनाओं के स्वामी बताये गये हैं वहां लिखा है कि—

सव्वे खलु कम्मफलं थावरकाया तस्साहा कज्जजुतम् ।
पाणित्तमदिक्कंता णाणं विदंति ते जीवा ॥ ३९ ॥

इसकी टीका करते हुये श्री अमृतचन्द्राचार्य लिखते हैं कि—

चेतयन्ते, अनुभवन्ति, उपलभन्ते विन्दन्तीत्येकार्थश्चेतनानुभूत्युपलब्धिवेदनानामेकार्थत्वात् । तत्र स्थावरा कर्मफल चेतयन्ते, त्रसाः कार्यं चेतयन्ते, केवलज्ञानिनो ज्ञानं चेतयन्त इति ।

अर्थात्—चेतन, अनुभव, उपलब्धि, वेदन आदि एकार्थक शब्द हैं। वहां स्थावर कर्मफल का अनुभव करते हैं तथा त्रस जीव कर्म का अनुभव करते हैं और केवली भगवान के ज्ञानचेतना है। यही भाव श्री जैसेनाचार्य की टीका का है।

उपरोक्त प्रमाणों को देखकर ब्र० शीतलप्रसाद जी को यह लिखने के लिये बाध्य होना पड़ा कि—"इस कथन से यही झलकता है कि ज्ञानचेतना अहरन्त अवस्था से प्रारंभ होती है, उसके पहले कर्मचेतना और कर्मफल चेतना दो ही हैं।" प्रवचनसार टीका खं० २ पृ० १४५

इसी प्रकार आचार्यकल्प पं० आशाधर जी ने अनगार धर्म्मामृत, २ । ३५ में भी केवली के ही ज्ञानचेतना मानी है। जिस प्रकार पंचास्ति काय में 'पाणित्तमदिक्कंताणाणं विदंति'। अर्थात् दस प्रकार के प्राणों से रहित आत्मा ही ज्ञान का अनुभव करता है। लिखा है—यही बात

अनगारधर्मामृत मे लिखी है। अभिप्राय यह है कि सम्पूर्ण आचार्य तथा प्राचीन विद्वान् इस विषय में एकमत हैं कि निश्चयनय से ज्ञान-चेतना केवली भगवान के और सिद्धों के होती है, तथा व्यवहार नय से निर्विकल्प समाधीरत योगी के होती है। छटे गुणस्थान तक ज्ञानचेतना का नितान्त अभाव है। यदि सम्यग्ज्ञान का नाम ही ज्ञानचेतना कहें तो हमें कुछ भी आपत्ति नहीं है।

प्रश्न—दर्शन मोहनीय तो क्षायिक सम्यग्दृष्टी के चतुर्थ गुणस्थान में ही समाप्त हो चुका। अतः मिथ्यात्व का तो वहीं अभाव हो गया पुनः सम्यग्दर्शन का बाधक कौन सा कर्म रह गया जिस से सम्यग्दर्शन में न्यूनता व विकार माना जाये ?

उत्तर—किसी भी द्रव्य का एक गुण न तो शुद्ध ही होता है और न विकृत ही, यह तो हम प्रथम ही सिद्धकर चुके हैं। अत. युक्ति व तर्क से तो ऐसा कहना ही विरुद्ध है। रह गया आगम का प्रश्न सो हम ने सैकड़ों प्रमाणों से यह सिद्ध कर दिया है कि असम्यग्दर्शन आदि सभी गुण एक साथ ही उत्पन्न होते हैं तथा एक साथ ही बढते हैं और अन्त में एक साथ ही पूर्ण होते हैं। जैनसिद्धान्तप्रवेशिका में श्री पं० गोपाल-दास जी वैरय्या लिखते हैं कि—

"जैसे जैसे गुणस्थान बढ़ते हैं, तैसे तैसे ही ये गुण भी (रत्नत्रय) बढ़ते हुये अन्त मे पूर्ण होते हैं। नं० ४६०

मोह और योग के निमित्त से, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्य-क्चारित्ररूप आत्मा के गुणों की तातम्यरूप अवस्था विशेष को गुण-स्थान कहते हैं।" नं० ४६१

यहां स्पष्टरूप से सम्यग्दर्शनादि गुणों का क्रमशः विकास माना गया है। तथा श्रीमदाचार्य गुणभूषण ने स्वरचित श्रावकाचार में लिखा है कि—

तद्द्वेधा स्यात्सरागश्च वीतरागस्त्वगोचरम् ।
प्रशमादिगुणं त्वाद्यं परं स्यादात्मशुद्धिभाक् ॥ ४५ ॥

शमः संवेगनिर्वेगौ निन्दागर्हणभक्तयः ।
आस्तिक्यानुकपेति गुणा दृष्टयनुमापकाः ॥ ४६ ॥

चारित्रं देहजं ज्ञानमक्षजं मोहजारुचिः ।
मुक्तात्मनियतो नास्ति तस्मादात्मैव तत् त्रयम् ॥ ५४ ॥

अर्थ—वह सम्यग्दर्शन सराग अर्थात् व्यवहार और वीतराग (निश्चय) भेद से दो प्रकार का है, इन में से वीतराग (निश्चय) अगोचर है अर्थात् बुद्धिगम्य नहीं है और व्यवहार प्रशम आदि गुण युक्त होता है। इस व्यवहार सम्यग्दर्शन को नापने के लिये, प्रशम, सवेग, अनुकंपा निर्वेग (वैराग्य) निन्दा अपने पापों पर पश्चाताप आदि थरमामीटर हैं। अर्थात् जितने ये गुण बढ़ते जाते हैं उतना ही सम्यग्दर्शन भी बढ़ता जाता है। तथा चारित्र तो शरीर से होता है और ज्ञान इन्द्रियाधीन है तथा रुचि मोह का विकार है। अतः ये मुक्तात्मा में नहीं हो सकते, इस लिये निश्चय नयसे आत्मा ही रत्नत्रय है। अत· निश्चय रत्नत्रय अकथनीय है। व्यवहार सम्यक्त्व के उत्पन्न होने मे अन्तरंग कारण सात प्रकृतियों का क्षय आदि है, (सप्तानां क्षयता शान्तेक्षयोपशमितापि च) (५५) तथा इस व्यवहार सम्यग्दर्शन के आज्ञा, आदि दश भेद भी हैं।

अभिप्राय यह है कि यहाँ भी सम्यग्दर्शन के क्रमिक विकास को स्वीकार किया है। तथा सम्यग्दर्शन के मापने का यन्त्र भी बता दिया है। यह भी स्मरण रखना चाहिये कि मिथ्यादृष्टि के जो श्रद्धान होता है उस मे संसार से विरक्तता नहीं होती है। वह मुनि भी होता है तो विरक्तता से नहीं अपितु राग के कारण से होता है, इसी लिये उसे द्रव्य लिंगी मुनि कहते हैं।

अत. यहां सम्यग्दृष्टी (चतुर्थ आदि गुणस्थानी) के व्यवहार सम्यक्त्व का कथन है। तथा च श्रीमदाचार्यप्रवर श्री जिनसेनाचार्य ने हरिवंश पुराण में लिखा है कि—

ज्ञानपंचकसिद्ध्यैस्ते दर्शनत्रिकशुद्धये ।
चारित्रतपसां शुद्ध्यैः प्रवृत्ताश्चरणोद्यताः ॥ सर्ग० ६४।१४ ॥

अर्थात्—सोमदत्त आदि व धनश्री आदि ने पांच ज्ञान, तीन सम्यग्दर्शन चारित्र और तप की शुद्धि के लिये चारित्र का प्रारंभ किया। यहाँ आचार्य महाराज ने क्षायिक सम्यग्दर्शन की शुद्धि के लिये भी चारित्र की आवश्यकता बताई है। अतः तप के बिना क्षायिक सम्यग्दर्शन भी शुद्ध नहीं हो सकता यह सिद्ध है, षट्प्राभृत में लिखा है कि—

ज्ञानं दर्शनं सम्यक्चारित्र शुद्धिकारणं तेषाम्। चारित्र पा०

अर्थात् चारित्रत्रय से ही रत्नत्रय की शुद्धि होती है।

तथा धर्म्मसंग्रह श्रावकाचार मे है कि—

तत्त्वार्थान् श्रद्धधानस्य निर्देशाद्यैः सदादभः ।
प्रमाणनय भंगैश्च दर्शनं सुदृढ भवेत् ॥ अधि० ४।३१

भावार्थ—तत्त्वार्थ श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन, महापुरुषों के उपदेश व प्रमाण, नय आदि के मनन मे सुदृढ होता है। यदि चतुर्थ गुणस्थान में ही सम्यग्दर्शन पूर्ण होजाता तो इस के अवगाढ, परमावगाढ आदि भेद करना ही व्यर्थ था।

परमावगाढ

परमावगाढ सम्यक्त्व के लिये आचार्यों ने लिखा है कि—

सर्वज्ञानावधिज्ञान मनः पर्ययसन्निधौ ।
यदात्मप्रत्ययोत्थं तत्परमाद्यवगाढकम् ॥

गुणभूषण श्रावकाचार, अ० १–६३

अर्थात्—सर्वावधिज्ञान व मनः पर्ययज्ञान के द्वारा जो आत्मश्रद्धान उत्पन्न होता है, वह परमावगाढ सम्यग्दर्शन है।

तथा उत्तरपुराण में लिखा है कि—

अंगागंबाह्यसद्भावनातः समुद्गता ।
क्षीणमोहस्य या श्रद्धा सावगाढेति कथ्यते ॥

केवलावगमावलोकिताखिलार्थगता रुचिः ।
परमाद्यवगाढासौ श्रद्धेतिपरमर्षिभिः ॥
पर्व० ७४।४४१

अर्थ—अंग और अंगबाह्य शास्त्रों के पूर्ण ज्ञान से जो श्रद्धा उत्पन्न होती है, उस को अवगाढ सम्यग्दर्शन कहते हैं। तथा केवलज्ञान द्वारा सकल पदार्थों की पूर्ण पर्यायों को जान कर *जो सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है, उसे परमावगाढ* कहते हैं। *तथा श्रीमान्* प० मक्खनलाल जी ने पुरुषार्थसिद्धयुपाय की टीका में लिखा है कि—

"अंगप्रविष्ट और अंगबाह्यरूप श्रुतज्ञान का अवगाहन करने से जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है वह अवगाढ सम्यक्त्व है। और केवलज्ञान उत्पन्न होने से जो सहभावी गुणों की विशुद्धता से सम्यक्त्व गुण की परमनिर्मलता होती है वह परमावगाढ सम्यक्त्व है।" पृ० १२६

उपरोक्त सब प्रमाण इस बात की पुष्टि कर रहे हैं कि चारित्र मोहनीय तथा ज्ञानावरण आदि कर्मों के बिना क्षय हुये क्षायिक सम्यग्दर्शन भी पूर्ण व पूर्ण निर्मल नहीं हो सकता।

चारित्र मोहनीय व सम्यक्त्व

परमाणुमात्रमपि खलुरागादीना तु विद्यते यस्य ।
नापि स जानात्यात्मानं सर्वागमधरोऽपि ॥ २०१ ॥
आत्मानमजानन् अनात्मानमपि सोऽजानन् ।
कथं भवति सम्यग्दृष्टिर्जीवो जीवावजानन् ॥ २०२ अ० ६

श्रीमद् जैसेनाचार्य कृत संस्कृत टीका—

रागी सम्यग्दृष्टिर्न भवति, इति कथयति। परमाणुमात्रमपि रागादीनां तु विद्यते यस्य हृदये सतु परमात्मतत्वज्ञानाभावात् शुद्धबुद्धैकस्वभाव परमात्मानं न जानाति, नानुभवति। सर्वागमधरोपि सिद्धान्तसिन्धु-

पारगोऽपि स्वसंवेदनज्ञानबलेन सह जानन्दैकस्वभावं शुद्धात्मानमजानन् तथैवाभवयंश्च शुद्धात्मनो भिन्नरागादिरूपमनात्मानं जानन्, स जीवो जीवाजीवस्वरूपमजानन् सन् कथं भवति सम्यग्दृष्टिः ? न कथमपीति ।"

अर्थ—रागी पुरुष सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता यह कथन करते हैं—*जिस व्यक्ति के परमाणुमात्र भी रागादि विद्यमान हैं, वह परमात्म तत्व* के ज्ञान के अभाव में शुद्ध, बुद्ध, चिदानन्दरूप स्वभाव परमात्मा को नहीं जान सकता उस का अनुभव नहीं कर सकता। चाहे वह शास्त्र समुद्र का पारगामी ही क्यों न हो। शुद्धात्म तत्व का अनुभव न करने वाला अनात्म पदार्थों का भी अनुभव नहीं कर सकता। बस आत्मा और अनात्मपदार्थों के न जानने वाला व्यक्ति किसी भी प्रकार सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता।

यहां आचार्यवर श्री कुंदकुंदाचार्य ने तथा श्रीमद् जैसेनाचार्य ने राग के परमाणुमात्र को भी सम्यक्त्व का घातक बताया है। राग, कषाय का अंश है जो कि चारित्र मोहनीय प्रकृति का अंश है। अतः यह सिद्ध है कि चारित्र मोहनीय का परमाणुमात्र भी अर्थात् संज्वलनकषाय का अंश मात्र भी सम्यक्त्व का घातक है। आगे आचार्य महाराज ने स्वयं प्रश्न किया है कि यदि ऐसी बात है तो ग्रहस्थी तीर्थंकर, चक्रवर्ती भरत, सगर राम, पांडव आदि जो कि तद्भव मोक्षगामी थे, तथा जिन के क्षायिक सम्यक्त्व कहा जाता है तो क्या वे सम्यग्दृष्टि नहीं थे? इस का उत्तर आचार्य देते हैं कि—

"अत्र तु ग्रन्थे पंचमगुणस्थानादुपरितन गुणस्थानवर्तिनां वीतराग-सम्यग्दृष्टीनां मुख्यवृत्या ग्रहणं सरागसम्यग्दृष्टीनां गौणवृत्येति व्याख्यानं सम्यग्दृष्टिव्याख्यानकाले सर्वत्र तात्पर्येण ज्ञातव्यम् ।"

इस ग्रन्थ में पचम गुणस्थान से ऊपर वाले निश्चय सम्यक्त्व का मुख्यतया कथन है तथा सराग 'व्यवहार' सम्यक्त्व का गौण वृत्ति से। उन के व्यवहार सम्यक्त्व था इस लिये कुछ विरोध नहीं आता। पर-

परमात्मप्रकाश की टीका मे भी स्पष्टरूप से तीर्थंकर आदियों के गृहस्थ अवस्था' में व्यवहार सम्यक्त्व कहा है। जो विद्वान इस श्लोक में मिथ्यात्व सम्बन्धी राग समझते हैं उन्हे जैनशास्त्रों का अधिक स्वाध्याय करना चाहिये।

चारित्रमोहनीय के २ भेद हैं, (१) कषाय (२) अविरत। इन में से कषाय तो सम्यक्त्व आदि गुणों को विकारी करता है तथा अविरत भावचारित्र को नहीं होने देता—

पंचाध्यायी

लोकासंख्यात मात्रास्ते यावद् रागादयस्फुटम्।
हिंसा स्यात्संविदादीना धर्म्माणा हिंसनान्वितः ॥७५४ अ० २
अर्थाद् रागादयो हिंसा चास्त्यधर्म्मो व्रतच्युतिः।
अहिंसा तत्परित्यागो व्रत धर्मोऽथवा किल ॥ ७५५ ॥

अर्थात् रागद्वेष रूप अनन्तभाव हैं वे सभी आत्मा के ज्ञान आदि सम्पूर्ण गुणों का घात करते हैं। अत. इन के होने से अपनी आत्मा की हिंसा होता है इस लिये रागादिभाव हिंसा के कारण तथा स्वय हिंसा स्वरूप हैं। इन के त्यागने का नाम ही अहिंसा अथवा व्रत आदि हैं।

यहा पर स्पष्टरूप से रागद्वेष आदि को जो कि चारित्रमोहनीय के औदयिक भाव हैं उन को आत्मा के ज्ञानादि गुणों का घातक कहा है। यहां आदि शब्द से सम्यक्त्व, सुख, सिद्धत्व अमूर्तत्व आदि गुणों का ग्रहण है।

तथा च पंचाध्यायीकारने सम्पूर्ण कर्मों की २ प्रकार की शक्ति मानी है १ सामान्य और २ विशेष। सामान्यतया सम्पूर्ण कर्म सम्पूर्ण आत्मिक गुणों को घातते हैं, तथा विशेषतया एक एक कर्म अपने प्रतिपक्षी गुण को घातता है। यथा।

अस्ति शक्तिश्च सर्वेषां कर्मणामुदयात्मिका।
सामान्याख्या विशेषाख्या द्वै विद्यात्तदद्वयस्य च ॥ ११२ ॥
सामान्याख्या यथा कृत्स्न कर्मणामेकलक्षणात्।
जीवस्याकुलतायाः स्याद् हेतुपाक गतोरस: ॥ ११३ ॥

अर्थ—सम्पूर्ण कर्मों में २ प्रकार की शक्ति है एक सामान्य दूसरी विशेष। सपूर्ण कर्मों में सामान्यतया जीव को व्याकुल करने की शक्ति है। अर्थात् जब तक कर्मकणिका रहेगा तब तक जीव व्याकुल रहेगा।

यह बात सिद्ध हो चुकी है कि जब तक कर्म है तब तक जीव को प्रकंपित करने वाला दु:ख भी रहेगा। अ० २ ॥ ३२६ ॥

कषाय और मिथ्यात्व

यदि शास्त्रों को गवेषणात्मक दृष्टि से देखा जाय तो यह बात प्रत्यक्ष-वत् प्रतीत होगी कि कषायों के सिवा मिथ्यात्व अर्थात् दर्शनमोहनीय की पृथक सत्ता नहीं है। इस की पुष्टि के लिये हम कुछ प्रमाण उपस्थित करते हैं। मोक्षमार्ग प्रकाशक में लिखा है कि—

"बहुरि मोह के उदयते मिथ्यात्व क्रोधादिभाव होय हैं तिनि सबनि का नाम सामान्यपने कषाय है।" पृ० ४०

तथा च षट्प्राभृत की टीका में लिखा है कि—

मिथ्यात्व पंचविधं तथा तेनैवप्रकारेण पचप्रकार मिथ्यात्व प्रकारेण कषाया पंचविंशतिभेदा:। भावप्रा० गा० ११४ पृ० २६५

अभिप्राय यह है कि पाँच प्रकार का मिथ्यात्व है, उन्हीं के भेद से कषायों के २५ भेद हैं। अर्थात् कषाय और मिथ्यात्व एक ही हैं। केवल तीव्र और मन्द का भेद है। इसी लिये आचार्यों ने रागमात्र को मिथ्या-त्व कहा है तथा तत्वार्थसार की टीका में पं० वंशीधर जी ने इस विषय को सुंदर व सरल शब्दों द्वारा प्रकट किया है। यथा

"मिथ्यात्व से लेकर प्रमाद तक के कषाय उत्तरोत्तर सूक्ष्म हैं। परन्तु हैं सभी कषाय। जहां प्रमाद घट कर केवल कषाय रह जाता है वहां स गुणस्थानों की संज्ञा अप्रमत्त रक्खी जाती है। इस प्रकार विचार करने से मिथ्यात्व आदि चारों, कषाय के ही भेद सिद्ध हो जाते हैं।
—पृ० २६५'

अभिप्राय यह है कि मिथ्यात्व, अविरति, योग, प्रमाद व कषाय बन्ध के कारण माने हैं वे सब कषाय का ही रूपान्तर हैं। अर्थात् मिथ्यात्वयोग, अविरति, प्रमाद और कषाय ये सब चारित्रमोहनीय के ही रूपान्तर हैं। यही बात पचसंग्रह की टीका मे लिखी है। यथा

"मिथ्यादर्शन और अविरति, ये दोनो कषाय के ही विशेष प्रकार हैं।" पृ० ३२६

पचाध्यायी का बाबा आदम ही निराला है। उस मे कहीं कुछ लिखा है तो कहीं कुछ। परस्पर विरोधी बातो से यह भरा पड़ा है। यथा

सत्यं स्वावरणस्योच्चै मूलं हेतुर्यथादयः। अ० २
कर्मान्तरोदयापेक्षो नासिद्ध कार्यकृद् यथा ॥ २०१

मत्यावरणस्योच्चै. कर्मणोऽनुदयाद् यथा ।
दृङ्मोहस्योदयाभावादात्मशुद्धोपलब्धि स्याद् ॥ २०३ ॥

अस्ति मत्यादि यज्ज्ञान ज्ञानावृत्युदयक्षते ।
तथा वीर्यान्तरायस्य कर्मणोदयादपि ॥ २०१ ॥

अर्थ—आत्मा के प्रत्यक्ष न होने मे मूल कारण, ज्ञानावरण कर्म का उदय ही है। साथ ही दूसरे कर्म भी उस गुण को रोक रहे हैं। एक कर्म को घात करने के लिये अन्य कर्म के उदय की अपेक्षा असिद्ध नहीं है। २०१। प्रत्येक शक्ति को कार्य करने के लिये बल की आवश्यकता है। अत: ज्ञान भी अपना कार्य करने के लिये जिस प्रकार ज्ञानावरणी का अभाव चाहता है उसी प्रकार वीर्यान्तराय क अभाव की भी उस को आवश्यकता है। जिस प्रकार शुद्धात्मोपलब्धि (आत्मप्रत्यक्ष) को ज्ञाना-

वरण कर्म रोकता है। उसी प्रकार शुद्धता को दर्शन मोहनीय कर्म रोकता है। इस लिये शुद्धात्मोपलब्धि के लिये ज्ञानावरण, वीर्यान्तराय, और दर्शनमोहनीय इन तीनों कर्मों के अभाव की आवश्यकता है। विना इन तीनों के अनुदय के शुद्धात्मा का अनुभवन कभी नहीं हो सकता।

भावार्थ—पंचाध्यायीकार ने शुद्धात्मोपलब्धि को ही सम्यग्दर्शन माना है। यहां सम्यग्दर्शन के लिये तीन कर्मों का अनुदय अथवा अभाव की आवश्यकता बताते हैं। तथा साथ ही एक गुण का बाधक उसके प्रतिपक्षी कर्म को ही नहीं मानते, अपि तु अन्य कर्मों को भी उसका बाधक कहते हैं। तथा प्रतिज्ञा करते हैं कि यह बात असिद्ध नहीं है। आगे जाकर श्लो० ६८८–६९१ मे लिखते हैं—

कार्यं चारित्रमोहस्य चारित्राच्युतिरात्मनः।
नात्मदृष्टेस्तु दृष्टित्वान् न्यायादितर दृष्टिवत् ॥

अर्थात्—दर्शनमोहनीय कर्म का अनुदय होनेपर शुद्धात्मा का अनुभवन होता है। उसमे चारित्रमोहनीय का उदय विघ्न नहीं कर सकता। आगे आप लिखते हैं कि चारित्र मोहनीय का एकमात्र कार्य चारित्र का घात करना है। वह सम्यक्त्व की घात नही कर सकता। क्योंकि सम्यक्त्व गुण पृथक ही है। अतः उसका घातक भी पृथक ही है। जिस प्रकार किसी एक की रोगी आंख दूसरे की निर्मल आंख को नुकसान नहीं पहुचा सकती।

अभिप्राय यह है कि यहा तो सम्यक्त्व गुण को तथा चारित्र आदि गुणो को इतना पृथक पृथक बताया है कि जैसे देवदत्त और यज्ञदत्त की आँख अलग अलग है। परन्तु आगे जाकर पंडित जी को यह स्मरण नहीं रहा कि मैं पूर्व मे क्या लिख आया हूं। अतः आप लिखते हैं कि—

सत्यं सद्दर्शन ज्ञान चारित्रान्तर्गत मिथ.।
त्रयाणामविनाभावादिदं त्रयमखंडितम् ॥ ७६७ ॥

शंकाकार का यह कथन सत्य है कि सम्यग्दर्शन और ज्ञान ये दोनों

चारित्र के अन्तरगत हैं। क्योंकि इन तीनों का अविनाभाव होने से ये तीनों अखण्डित हैं।

यहां आपने तीनों का एकीकरण कर दिया। आगे आप इन सब गुणों का ही खण्डन करते हुये लिखते हैं—

एवमर्थवशान्नून सन्त्यनेके गुणाश्रितः।
गत्यन्तरात्स्यात्कर्मत्व चेतनावरण किल ॥१००४

इसका अनुवाद पं० मक्खनलाल जी ने इस प्रकार किया है—

"इस प्रकार प्रयोजनवश आत्मा के अनेक गुण कल्पना किये जा सकते हैं। जैसे यदि चेतना गुण के ज्ञान दर्शन इन दो भेदों की पृथक २ कल्पना न करके केवल चेतना गुण की ही अपेक्षा की जाय तो उस गुण का प्रतिपक्षी कर्म भी चेतना वरण एक ही माना जायेगा और फिर ज्ञानावरण, दर्शनवरण को अलग २ मानने की आवश्यकता न होगी।"

यहां गुणों को तथा कर्मों को कल्पित सिद्ध कर दिया गया। जो व्यक्ति जैसी चाहे वैसी कल्पना कर सकता है।

लेश्या

सम्यग्दर्शन के साथ लेश्याओं का गहन सम्बन्ध है। अतः लेश्याओं का विचार करना आवश्यक है। लेश्या का अर्थ श्री धवला जी में किया है कि—

कर्मस्कन्धैरात्मानं लिम्पतीति लेश्या। कषायानुरंजितैव योगप्रवृत्ति-र्लेश्येति नात्र परिगृह्यते ॥

भाग १ पृ० ३८६

अर्थात्—कर्मस्कन्धों से जो आत्मा को लीपती हैं उन्हें लेश्या कहते हैं कषायों से अनुरंजित योगों की प्रवृत्ति को भी लेश्या कहते हैं। परन्तु उस अर्थ की यहां मुख्यता नहीं रक्खी गई है।

षड्विधः कषायोदः। तद् यथा तीव्रतमः, तीव्रतरः, तीव्र, मन्दः- मन्दतरः, मन्दतमः। एतेभ्यः षड्भ्यः कषायोदयेभ्यः परिपाट्या षड् लेश्या भवन्ति।

अर्थ—तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र तथा मन्द, मन्दतर, मन्दतम भेद से कषाय ६ प्रकार के हैं। इन्हीं कषायों के भेद से लेश्यायें भी ६ प्रकार की हैं। यथा।

(१) कृष्ण, नील कापोत पीत (तेजस) पद्म, शुक्ल। ये भाव और द्रव्यभेद से २ प्रकार की होती हैं। यहां भाव लेश्याओं का ही कथन किया जायेगा। इन में सब से निकृष्ट कृष्ण लेश्या है। कृष्ण लेश्या का स्वभाव निम्नप्रकार का है।

धवला जी में कृष्ण लेश्या वाले के भाव निम्न प्रकार बतायें हैं —

"तीव्र क्रोध करने वाला हो, वैर को न छोड़े लड़ना जिस का स्वभाव हो, मन्द बुद्धि, उद्दड, विवेक रहित, विषय लंपट, मानी, मायावी, आलसी, भीरु, धर्म और दया से रहित हो किसी के वश में न आने वाला हो आदि गुण कृष्ण लेश्यावाले के हैं।"

भाव लेश्या का कथन करते हुये लिखा है कि—

योगाविरतिमिथ्यात्वकषायजनितांगिनाम् ।
संस्कारोभाव लेश्यास्ति कल्मषास्रवकारणम् ॥

अर्थात्—जीवों के योग असंयम, मिथ्यात्व, कषाय द्वारा आत्मा में जो विकारभाव उत्पन्न होते हैं, उसे भावलेश्या कहये हैं। इस भावलेश्या द्वारा कर्मों का आस्रव होता है। ये लेश्यायें ६ प्रकार की हैं। (१) तीव्रतम (कृष्ण) तीव्रतर (नील) तीव्र (कापोत) मन्द (पीत) मन्दतर (पद्म) मन्दतम (शुक्ल) प्रथम चार गुणस्थानों तक छह लेश्यायें पाई जाती हैं। पाचवें से सातवें तक तीन शुभ, लेश्यायें होती हैं। अर्थात् पीत, पद्मशुक्ल, आठवें से तेरहवें गुणस्थान तक शुक्ललेश्या ही होती है। क्षायिक सम्यग्दृष्टि के जघन्य कापोतलेश्या ही होती है।

लेश्याओं के गुण

कृष्ण—अत्यन्त दुष्ट, दुराग्रही, अनन्तानुबन्धी, क्रोध, मान, माया-लोभ से ग्रसित, दया से रहित, पश्चाताप से रहित, मद्य-मांस आदि सेवन में अति आसक्त, सदा बुरे अन्न के खाने वाला।

नील—क्रोध,मान माया, रागद्वेष आदि से सहित, मोही शोक युक्त, हिंसा में रत क्रूर चंड स्वभाव वाला, चोर, धूर्त आलसी, परनिन्दापरायण कामासक्त, निन्द्रालु, विवेकहीन, अति ममत्व रखने वाला, बह्वारंभी।

कापोत—शोकमय, मत्सर असूया आदि से संयुक्त, परनिन्दक आत्मप्रशंसी, अपनी बडाई सुन कर खुश होने वाला। विचारशून्य, अहंकारी, दूसरे के यश को नष्ट करने का इच्छुक, रण में मरने का अभिलाषी।

तेजस (पीत)—सम्यग्दृष्टि, द्वेष रहित, विचारवान, दानी, प्रियवादी दयालु, बुद्धिमान, उदार हृदय।

पद्म—शुद्ध स्वभावी, दान में रत, सज्जन, विनीत, हितमितप्रिय-वादी, साधुजनों का सेवक, शान्त दान्त, सरलपरिणामी।

शुक्ल—निदान रहित (निरेच्छ) अहंकार आदि से रहित पक्षपात शून्य, रागद्वेष के त्यागी। महानात्मा विरक्त, आत्मलीन। आदि आदि।

गोम्मटसार में लेश्या के विषय में विस्तार पूर्वक कथन है। वहां लिखा है कि—

"जिस के द्वारा जीव अपने को पुण्य और पाप से लिप्त करे उस को लेश्या कहते हैं। लिप के अर्थ आधीन के भी हैं।

योगप्रवृत्तिर्लेश्या कषायोदयानुरंजिता भवति।
ततो द्वयोकार्यं बन्ध चतुष्कमुद्दिष्टम् ॥ जी० ४८६ ॥

कषायोदय से अनुरक्त योग प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं। इसी लिये

दोनों का बन्ध चतुष्करूप कार्य परमागम में कहा है।"

भावार्थ—उपरोक्त प्रमाणों से निम्नलिखित बातें सिद्ध होती हैं—कर्मस्कन्धों से अथवा पुण्य पापसे जो आत्माको लीपता है, अर्थात् उनके आधीन करती है उसे लेश्या कहते हैं। अथवा कषाय और योग से अनुरंजित जीव की विभावरूप परणति को लेश्या कहते हैं। इन सब लक्षणों में कथनशैली का ही भेद है।

इन लेश्याओं के ६ भेद हैं उन में, कृष्ण, नील, कपोत ये तीन तो अशुभ लेश्यायें हैं, तथा पीत (तेजः) पद्म और शुक्ल ये तीन शुभ लेश्यायें कहलाती हैं।

प्रथम से लेकर चतुर्थ गुणस्थान तक छः लेश्याओं का सद्भाव शास्त्रों में लिखा है। तथा पंचम गुणस्थाय में तीन शुभ लेश्याएँ होती हैं। तथा छटे और सातवें तक भी तीन शुभ लेश्यायें होती हैं। आठवें से १३ वें तक शुक्ल लेश्या ही होती है। परन्तु क्षायिक सम्यग्दृष्टि के चतुर्थ गुणस्थान में भी जघन्य कापोतलेश्या ही है। उस के कृष्ण और नील नहीं होती। चतुर्थ गुणस्थान तक तीन अशुभ लेश्यायें क्यों होती हैं इस का उत्तर धवला जी में दिया है कि—

"तीव्रतम, तीव्रतर और तीव्र, कषाय के उदय का सद्भाव चतुर्थ गुणस्थान तक ही है।" भा० १ पृ० ३६१

जो कि कृष्ण, नील, कापोत, लेश्या से ही उत्पन्न होता है। रौद्र-ध्यानको पांचवें गुणस्थान तक, माना है यह भी कृष्ण नील, कापोत, लेश्या जनित है। इसी प्रकार धर्मध्यान को सातवें गुणस्थान में माना है। यह तीन शुभ लेश्याओं से उत्पन्न होता है। तब क्या चतुर्थ गुणस्थान में धर्मध्यान का भी अभाव माना जाये? यदि यह बात है तो उस को सम्यग्दृष्टि किस अपेक्षा से माना जायेगा। आर्त और रौद्रध्यान तो मिथ्या दृष्टि के चिन्ह हैं। क्यों कि सम्यग्दृष्टि कभी भी हिंसानन्दी व चौर्यानन्दी आदि भावों वाला नहीं हो सकता।

छठे गुणस्थान में निदान रहित तीन प्रकार ही आर्तध्यान होता है। यह अनादिकाल के अप्रशस्तरूप संस्कार से स्वभावतः उत्पन्न होता है। इस का फल तीर्यंचगति है। आर्तध्यानी के वाह्य चिन्ह निम्न हैं— वह प्रत्येक बात में सन्देह करता है संशयात्मिक रहता है। तथा शोकमय प्रमाद सहित होता है। कलह प्रिय होता है, चित्तभ्रम, उद्भ्रान्ति, चचलता, विषयासक्ती, खेद, मूर्च्छा, अंगों में शिथिलता, बहुनिद्रा आदि। रौद्रध्यान। कृत, कारित, हिंसा, चोरी, झूठ, परिग्रह में हर्ष मानता है। तथा च—

> अनारत निष्करुणस्वभाव. स्वभावतः क्रोधकषायदीप्तः।
> मदोद्धतः पापमतिः कुशील. स्यान्नास्तिकोयः सहिरौद्रधाम ॥

जो सतत निर्दय स्वभावी हो, क्रोध से प्रज्वलित रहता हो, अभिमानी, जिस की बुद्धि पापमय हो, व्यभिचारी हो, नास्तिक हो, ऐसे पुरुषों में यह रौद्रध्यान निवास करता है। तथा हिंसा, पापोपदेश, नास्तिकता, कुसंगती आदि में यह रौद्रध्यानी अति निपुण होता है। यह रौद्रध्यान कृष्ण लेश्या से युक्त है तथा नरक में ले जाने वाला है। तथा, दुष्टता, कठोरता, परवंचकता, चौरी, जारा, जीवों का बिना प्रयोजन भी घात करना, ये रौद्रध्यान के चिन्ह हैं। अविरत प्रदीप्त लाल नेत्र, भौंह टेढी, भयानक आकृति आदि भी रौद्रध्यान के चिन्ह हैं।

इस प्रकार लेश्याओं के विचार से भी चतुर्थ व पांचवे गुणस्थान में व्यवहार सम्यग्दर्शन भी अशुद्धतर व अशुद्ध ही ठहरता है।

ध्यान

जैनशास्त्रों में चार प्रकार के ध्यानों का कथन है—

(१) आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल ध्यान। जिन का संक्षेप कथन इस प्रकार है।

(१) आर्तध्यान—आर्ति का अर्थ पीड़ा है, जिस ध्यान में पीड़ा सहनी पड़े उसे आर्तध्यान कहते हैं। यह कृष्ण, नील, कापोत, लेश्या से उत्पन्न होता है। रोना, विलाप व प्रलाप आदि करना इस के बाह्य चिन्ह हैं। तथा ईर्षा, मात्सर्य, कामासक्त आदि अन्तरंग लक्षण हैं। यह ध्यान छटे गुणस्थान तक रहता है।

(२) रौद्र—इस का क्रूरता है। इस के ४ भेद—

(१) हिंसानन्द—इस भाव वाला हिंसा में ही आनन्द मानता है।

(२) परिग्रहानन्द—यह परिग्रह में ही आनन्द मानता है।

(३) चौर्यानन्द, यह चोरी, डाके आदि में ही आनन्द मानता है।

(४) मृषानन्द। यह झूठ बोलने में आनन्द मानता है।

क्रूरवचनादि इस के बाह्य लक्षण हैं। यह भी तीन अशुभ लेश्याओं से उत्पन्न होता है तथा पांचवे गुणस्थान तक रहता है।

धर्मध्यान—आत्मा के वास्तविक स्वरूप को धर्म कहते हैं। उस स्वरूप के ध्यान को अथवा उस ध्यान के कारण को भी धर्मध्यान कहते हैं। यह धर्मध्यान अपायविचय, उपायविचय, जीवविचय आदि भेद से १० प्रकार का है। इस मे 'अपाय' का अर्थ विरह और 'विचय' का अर्थ 'विचार' है। मन वचन काय की प्रवृत्ति संसार का कारण है, मेरी इस से कब निवृत्ति होगी, इस प्रकार का विचार करना अपायविचय धर्मध्यान है। मेरे ज्ञान वैराग्य आदि भावों की उत्पत्ति कब होगी, यह उपायविचय है। जीव, अजीव आदि तत्वों का विचार करना जीवविचय तथा अजीवविचय आदि हैं। यह धर्मध्यान तीन शुभ लेश्याओं से उत्पन्न होता है। तथा अप्रमत्त गुणस्थान मे होता है। हरिवंश पु० सर्ग ५६

(१) तत्वानुशासन मे, व्यवहार और निश्चय भेद से धर्मध्यान दो प्रकार का बताया है। छठे गुणस्थान तक व्यवहार धर्मध्यान रहता है।

भावार्थ—गोम्मटसार जी आदि सभी सैद्धान्तिक ग्रंथों में तीन अशुभ लेश्याओं का सद्भाव चतुर्थ गुणस्थान तक ही माना है, तथा

पांचवें गुणस्थान में तीन शुभ लेश्याओं का ही होना माना है। परन्तु यहां आर्तध्यान को छटे गुणस्थान तक माना है।

सारांश

उपरोक्त कथन का सारांश यह है कि सम्यग्दर्शन दो प्रकार का है एक व्यवहार दूसरा निश्चय। चतुर्थ गुणस्थान से सातवे गुणस्थान तक के सराग सम्यग्दर्शन को व्यवहार सम्यक्त्व कहते हैं, तथा उस से ऊपर के वीतराग को निश्चय। जो विद्वान मिथ्यादृष्टि के श्रद्धान को व्यवहार सम्यग्दर्शन समझते हैं वे भारी भ्रम में हैं। अपना मन प्रसन्न करने के लिये किसी अपेक्षा वश उस को भी व्यवहार सम्यक्त्व कह सकते हैं। परन्तु वास्तविक दृष्टि से तो सात प्रकृतियों के क्षय आदि से जो श्रद्धान होता है उसी को व्यवहार सम्यक्त्व कहते हैं। क्यों कि यही परंपरा से मोक्ष का कारण है। इसी व्यवहार सम्यक्त्व के अवगाढ परमावगाढ आदि भेद हैं। इन सब में सम्यक्त्व के लक्षण श्रद्धान ही है। जैसा कि श्रीमद् यशःकीर्ति आचार्य ने प्रबोधसार में लिखा है—

> द्वेधा त्रेधाथवा प्राहुर्दशधा वा सुदर्शनम्।
> तत्त्वश्रद्धैव सर्वत्र बहुभेदैः प्रदर्शिता ॥ ६१ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन के दो, तीन अथवा दशभेद कहे गये हैं, उन सब में तत्त्वार्थ श्रद्धान का ही अनेक भेदों से कथन किया गया है।

अभिप्राय यह है कि सम्यग्दर्शन का एकमात्र लक्षण तत्त्वार्थ श्रद्धान है। यह व्यवहार सम्यग्दर्शन मोक्ष का तो परम्परा कारण है और देवायु-आदि का साक्षात् कारण है। इसी लिये 'सम्यक्त्व च' सूत्र में आचार्य वर्य ने सराग सम्यक्त्व को भी देवायु की आस्रव का कारण माना है। तथा पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय की हस्तलिखित टीका में श्रीमान् पं० टोडरमल जी ने भी लिखा है कि—

"रत्नत्रय दोय प्रकार है एक व्यवहार दूजा निश्चय। ... यह व्यवहार रत्नत्रय तो परंपरा मोक्ष का कारण है, अर साक्षात् इन्द्र अहं इन्द्र आदि पद को कारण है। अर निश्चय रत्नत्रय मोक्ष रूप है बन्ध को कारण नहीं" यही पुरुषार्थ सिध्युपाय की मूल गाथा २२२ का अभिप्राय है। सारांश यह है कि सम्पूर्ण दि० जैनाचार्यों का यही मत है कि सराग सम्यक्त्व बन्ध का कारण है और वीतराग मोक्ष का।

ज्ञानचेतना

अष्टम गुणस्थान से पहले ज्ञान चेतना का नितान्त अभाव है, फिर भी यदि उस को चतुर्थ गुणस्थान में मान लें, तो भी पंचाध्यायी के अनुसार ही चतुर्थ आदि गुणस्थान जितने अंशों मे ज्ञानचेतना होती है वहां उतना सम्यग्दर्शन होता है जैसा कि अ० २, २२७ के भावार्थ मे प० देवकीनन्दन जी ने लिखा है—

"शुद्धोपलब्धि का नाम सम्यक्त्व है अपने प्रतिपक्षी कर्म के अभाव से जितनी शुद्धोपलब्धि होती है उतनी ही ज्ञानचेतना होती है। पूर्ण ज्ञानचेतना और पूर्ण परमावगाढ सम्यक्त्व केवली के ही होता है।" इस प्रकार भी सम्यक्त्व का क्रमिक विकास ही सिद्ध होता है।

चारित्रमोहनीय

भगवती आराधना गा० १ की टीका में आचार्य लिखते है कि—

"चारित्र के बिना क्षायिक ज्ञान और क्षायिक वीतराग सम्यक्त्व प्राप्त नही होते। मोहनीय कर्म से उत्पन्न हुये दोष जिसमे तिलमात्र भी नही हैं, ऐसा यथाख्यात चारित्र ही ज्ञान और दर्शन का उत्कृष्ट रूप है। ... दो प्रकार के मोहकर्म से अलिप्त ऐसा श्रद्धान और ज्ञान ही यथाख्यात चारित्र है।" पृ० ४४ भाग १

उपरोक्त कथन से यह सिद्ध हो गया कि क्षायिक सम्यग्दर्शन भी व्यवहार और निश्चय भेद से दो प्रकार का है। निश्चय क्षायिक सम्यक्त्व चारित्रमोहनीय के अभाव से उत्पन्न होता है। तथा आचार्यों ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि यथाख्यात चारित्र ही सम्यग्दर्शनादि का उत्कृष्ट रूप है, तथा उनकी पूर्णता का ही नाम यथाख्यात चारित्र है। अर्थात् एक गुण की पूर्ण निर्मलता सर्व गुणों की पूर्ण निर्मलता कहलाती है।

क्षायिक सम्यक्त्व

सात प्रकृतियों के क्षय से जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है उसे क्षायिक कहते हैं। इनमें अनन्तानुबन्धी की ४ प्रकृतियों का तो विसंयोजन होता है और दर्शन मोहनीय की ३ प्रकृतियों का क्षय होता है। यहां चार प्रकृतियों के विसंयोजन को भी क्षय ही समझा जाता है। परन्तु इस विषय में आचार्यों में कुछ मतभेद प्रतीत होता है। चर्चा समाधान में लिखा है कि—"दर्शनमोह के क्षय से अनन्तानुबन्धी का क्षय होता है। दर्शन मोह के क्षय विना अनन्तानुबन्धी का विसंयोजन होता है। "क्षीण-दर्शनमोहे" इति वचनात्। पृ० १६

तथा आगे पृष्ठ २४ में लिखा है कि—"इसका (दर्शनमोह के क्षपक का) गुणस्थान छठा-सातवाँ ही जानना।"

यहां दो भेद माने गये हैं। प्रथम भेद तो अनन्तानुबन्धी का विसंयोजन करके दर्शन मोहनीय का क्षय करना। दूसरा दर्शनमोहनीय का क्षय करके अनन्तानुबन्धी का क्षय करना। इसी को द्वितीय क्षायिक सम्यक्त्व भी कहते हैं। राजवार्तिक में जो क्षायिक सम्यक्त्व के लिये लिखा है कि- "सप्तानां कर्मप्रकृतीनामात्यन्तकेऽपगमे सत्यात्मविशुद्धि-मात्रमितरद्।

यहां जो आचार्य महाराजने 'आत्यन्तकेऽपगमे' में अत्यन्त शब्द रक्खा है वह भी उपरोक्त चर्चा समाधान के लेख की पुष्टि करता है।

अर्थात् यहाँ भी क्षपक श्रेणी वाले क्षायिक सम्यग्दर्शन का ग्रहण किया है अथवा द्रव्यसंग्रह में केवली के सम्यग्दर्शन को परम क्षायिक कहा है। हो सकता है कि अत्यन्त शब्द से आचार्यों का उसी सम्यग्दर्शन से अभिप्राय हो। सारांश यह है कि इस अत्यन्त शब्द ने चतुर्थ गुणस्थान वाले के क्षायिक सम्यक्त्व का निषेध कर दिया है। अन्यथा 'आत्यन्तिक' शब्द ही व्यर्थ सिद्ध होगा। अतः क्षायिक सम्यग्दर्शन भी गृहस्थी के तो व्यवहार ही होता है, यह सर्वमान्य निश्चित सिद्धान्त है।